Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंडित दीनदयाल उपाध्याय
विचार दर्शन

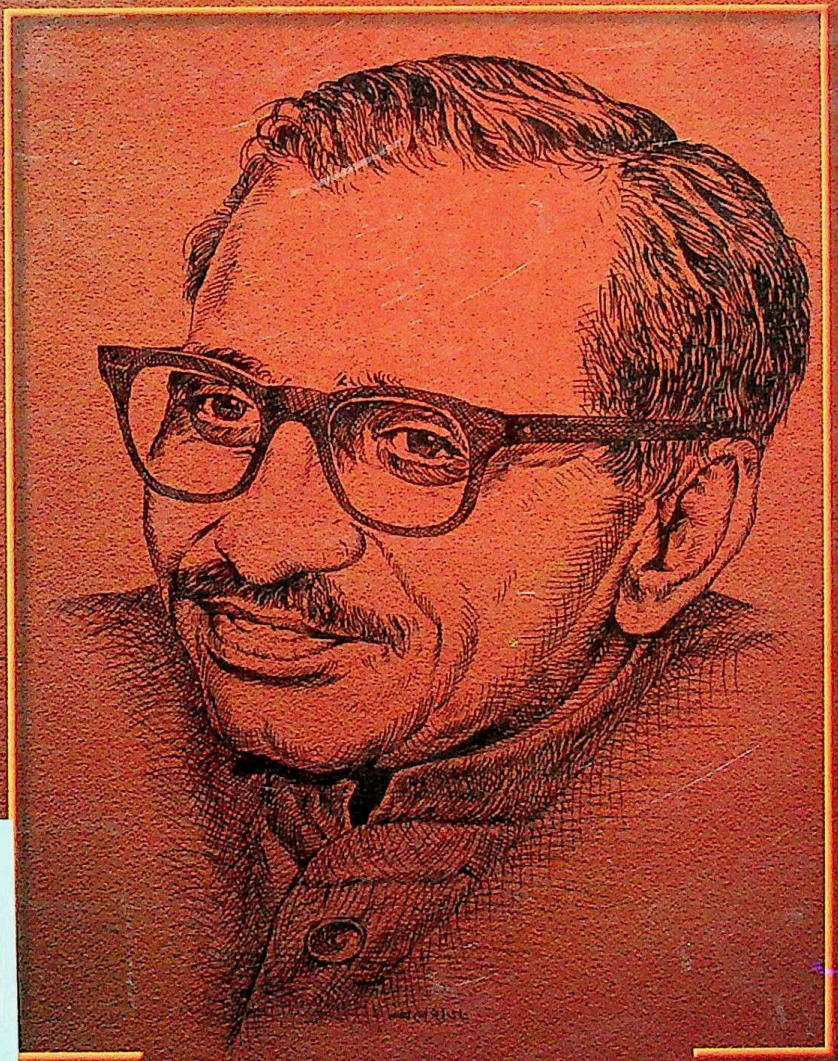

राष्ट्र की अवधारणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

43.4
भिषी - 4
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
155201

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंडित दीनदयाल उपाध्याय
विचार-दर्शन

खण्ड - 5

राष्ट्र की अवधारणा

चन्द्रशेखर परमानन्द भिषीकर

पुस्तकालय
155201
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

सुरुचि प्रकाशन
केशव कुंज, झण्डेवाला,
नई दिल्ली - 110055

43.4,BHI-P
155201

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं. दीनदयाल उपाध्याय : विचार दर्शन
खण्ड - 5 : राष्ट्र की अवधारणा

लेखक
चन्द्रशेखर परमानन्द भिषीकर

अनुवादक
मोरेश्वर तपस्वी

R
43.4
भि पी - 4

प्रकाशक
सुरुचि प्रकाशन
केशव कुंज, झण्डेवाला,
नई दिल्ली - 110055
दूरभाष : 011-23514672, 23634561
E-mail : suruchiprakashan@gmail.com
Website : www.suruchiprakashan.com

© सुरुचि प्रकाशन

प्रथम संस्करण : सितम्बर, 1986
तृतीय संस्करण : मई, 2014

मूल्य : ₹ 115

मुद्रक : मोहित एण्टरप्राइजेज़

ISBN : 978-93-81500-73-6

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्पण

उन साधकों और कर्मवीरों को,
जो युगों-युगों से चलती आयी
आध्यात्मिक चिन्तनधारा से पोषित
श्रेष्ठ जीवनादर्शों को युगानुकूल
कलेवर प्रदान करने के लिए
कृतसंकल्प हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रमणिका

	अध्याय	पृष्ठ
	लेखक की बात	v
1.	प्रस्ताविक	1
2.	यह हिंदू राष्ट्र ही है!	10
3.	सार्वभौम धर्म	22
4.	अनर्थकारी आत्मविस्मृति	33
5.	राज्य का तात्पर्य राष्ट्र नहीं	58
6.	यज्ञचक्र	69
7.	हिंदू राष्ट्र की चिति	83
8.	सुखानुभूति का मार्ग	96
9.	विविधता में एकता का सूत्र	111
10.	'यह विश्व ही मेरा घर'	128
11.	अल्पसंख्यकों की समस्या का हल	148
12.	हिंदू सब एक	170
13.	हमारा संविधान	182
14.	संक्रमण के प्रसाद-चिह्न	192
	संदर्भ-ग्रन्थ-सूची	199

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक की बात

पं. दीनदयाल जी के साथ मेरा परिचय हुआ और बढ़ता गया, मुख्यतः राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कारण। संघ के अनेक कार्यक्रमों में हम साथ रहे। 1960 में तो इंदौर में हुए एक शिविर में हम दस दिन साथ रहे। यह मेरा अहोभाग्य था। उनके अनेक बौद्धिक वर्गों को संघ के कार्यक्रमों में मैंने सुना और अनेक बार उनसे चर्चा भी की। मैं सक्रिय राजनीति में कभी उतरा नहीं, किन्तु एक संघानुकूल दैनिक का संपादक होने के नाते भारतीय जनसंघ की नीतियाँ, राजनीतिक क्षेत्र में उनकी भूमिका, संघविचारों का उस माध्यम से होने वाला प्रक्षेपण और स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के काल में घटनाचक्र की दिशा आदि विषयों पर प्रसंगानुसार पं. दीनदयाल जी के साथ कई बार बातें होती रहीं।

विचारों के इस आदान-प्रदान और पंडित जी के प्रत्यक्ष जीवन-व्यवहार से मन पर ऐसी अमिट छाप अंकित हो गयी कि यह मनुष्य हिंदू जीवन-दर्शन का सार ग्रहण कर संपूर्ण आत्मश्रद्धा के साथ खड़ा है, उन विचारों के साथ तादात्मय हो चुका है और उस ज्ञान के प्रकाश में आधुनिक भारत के उत्थान का महामंत्र उसने सिद्ध कर लिया है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक प. पू. श्री गुरूजी के चिन्तन के साथ इसके जीवन के तार का सुर पूर्णतः मिल गया है। वह कहीं भी जाये, किसी भी मंच पर खड़ा होकर बोले, भारत की राष्ट्रीय भावभावना का ही उद्‌गान करेगा; उसकी वाणी, लेखनी तथा करनी हिंदू राष्ट्र के स्वरूप की अभिव्यक्ति करने के कार्य को ही समर्पित रहेगी। पंडित जी की ऐसी प्रतिमा मेरे मानस पर अमिट हो गयी। ऐसे व्यक्ति की विचार-संपदा का परिचय नयी पीढ़ी को करा देने की एक योजना लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे मित्र श्री राजाभाऊ नेने एक दिन मेरे यहाँ पधारे और पंडित जी के राष्ट्रचिंतन पर मुझसे कुछ लिखवाने की इच्छा उन्होंने व्यक्त की।

मुझे उनकी सारी योजना नितान्त औचित्यपूर्ण प्रतीत हुई। उसमें सहभागी होने की कल्पना मात्र से मैं रोमांचित हो गया। कुछ आनंद भी हुआ, इसलिए कि पंडित जी द्वारा अपनी राष्ट्रभूमि के बारे में 'राष्ट्र' के रूप से प्रस्तुत आग्रही विचार विविध कार्यक्षेत्रों, विशेषतः राजनीति में साहस के साथ उभरती युवा पीढ़ी तक पहुँचाने की आवश्यकता को मैं भी मानता हूँ। उनका वह विचार मन में घुल जाये तो जीवन को एक महान ध्येय प्राप्त होगा और किस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कार्य करना है, इसके बारे में कोई संभ्रम नहीं रहेगा। सुनिश्चित एवं उदात्त ध्येय के अभाव में जीवन में आनेवाली विकृतियों के लिये फिर कोई स्थान नहीं रहेगा। दूसरे, मन में यह आकर्षण जागा कि लेखन का दायित्व निभाते समय पं दीनदयाल जी की विचार-संपदा का नये सिरे से मनन-चिंतन हो जायेगा, उनका लिखा एक-एक शब्द फिर पढ़ना पड़ेगा और उनका प्रत्यक्ष सहवास न सही, वैचारिक सहवास तो अवश्य प्राप्त होगा।

किन्तु प्रत्यक्ष में लिखना प्रारंभ किया तो काम कितना कठिन है, समझ में आने लगा। यह अनुभव किया कि पंडित जी के विचारों की पहुँच बहुत लम्बी है। हमारे राष्ट्र के अतीत एवं वर्तमान का वेध लेकर उज्ज्वल भविष्य के लिये कार्य की दिशा स्पष्ट करने वाली उनकी प्रतिभा उत्तुंग है। वे हिंदू राष्ट्रजीवन के महान भाष्यकार हैं। उन्हें अभिप्रेत समूचा आशय पाठकों तक पहुँचाने का काम वास्तव में उतने ही सशक्त प्रज्ञावान को करना चाहिए। मैं अपनी क्षमता की सीमाओं को भलीभाँति जानता हूँ। उन्हीं सीमाओं में पं. दीनदयाल जी के राष्ट्रचिंतन को यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास मैंने यथामति किया है।

सूत्र रूप में ग्रथित अनेक विचारों को वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अधिक विशद करना प्रस्तुत लेखन का मुख्य उद्देश्य तो रहा ही है। आवश्यक था कि हिंदू राष्ट्रजीवन के बारे में लिखने एवं सोचने वाले विचारकों की सहायता और मार्गदर्शन इस प्रयास में प्राप्त होता। सौभाग्य से इस विषय पर लोकमान्य तिलक, स्वातंत्र्यवीर सावरकर, श्री गुरूजी, श्री बालशास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
हरदास प्रभृति मनीषियों का मूलभूत प्रतिभाशाली चिंतन उपलब्ध है। कहना न होगा कि वह फिर से पढ़ना पड़ा। सर्वश्री ज. द.जोगलेकर, दत्तोपंत ठेंगड़ी जी, सुदर्शन जी, प्रो. राजेन्द्रसिंह जी (रज्जूभैया), शेषाद्रि जी, डॉ. वि. वि. पेंडसे, मामाराव दाते आदि विचारकों द्वारा किया गया जानकारीपूर्ण लेखन पं. दीनदयाल जी के अनेक अभिप्रायों की पुष्टि करने वाला प्रतीत हुआ। प्रा. पां. कृ. सावलापुरकर द्वारा मराठी में अनूदित 'दैशिक शास्त्र' चिति और विराट् की परिकल्पनाओं को स्पष्ट करने के लिये बहुत उपयोगी रहा है। पूरे लेखन-काल में पं. दीनदयाल जी द्वारा राष्ट्रस्वरूप के बारे में किया गया सारा लेखन तो नित्य चिंतन-मनन का विषय बना रहा। इन सबके आधार पर पं. दीनदयाल जी के विचारों को विविध अंगो एवं सुबोध ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास यहाँ किया है। वह कितना सफल रहा है, कहना मेरा काम नहीं। किन्तु विचारों के सहवास में कुछ समय निश्चय ही बहुत आनंद में बीता है। सर्वश्री दत्तोपंत ठेंगड़ी, राजभाऊ नेने, अप्पासाहेब सोहनी, भारतीय विचार-साधना के विनायकराव जोशी आदि मित्रों के साथ हुई चर्चाओं का भी इसमें पर्याप्त उपयोग हुआ है। यह बोध निरन्तर रहा है कि मैंने इन लोगों के समय पर भरपूर अतिक्रमण किया। पुणे, बम्बई, नागपुर के अनेक मित्रों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मेरी पर्याप्त सहायता की है। इन सबके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। यहाँ मुझे यह अवश्य बताना पड़ेगा कि ऐसे सभी लोगों ने, जिनके साथ मैंने इस विषय पर बातचीत की, इस उपक्रम का हार्दिक स्वागत किया। पं. दीनदयाल जी का 'ऋषिऋण' हम सभी पर है। उस ऋण से अंशतः मुक्त होने का प्रयास श्री राजाभाऊ नेने और उनके सभी सहयोगियो नें इस उपक्रम द्वारा किया, इसका सभी को सन्तोष रहा है। सच बात तो यह है कि अधिक गहराई में जाकर आधुनिक भारत के प्रत्येक जीवन क्षेत्र, उसकी समस्याओं एवं उनके समाधान का, समूचे राष्ट्र में चेतना भर देने वाला, व्यवहारिक मार्गदर्शन आज की पीढ़ी के सामने समग्रता से प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। प्रस्तुत पुस्तक विचारों को प्रेरणा देने वाली अल्प सामग्री मात्र है।

पं. दीनदयाल जी जैसे तत्वग्राही प्रवृत्ति वाले एवं भक्तिभावना से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओतप्रोत व्यक्ति ने हमारे हिंदू राष्ट्रस्वरूप का दर्शन जितनी उत्कटता एवं सुस्पष्टता से किया, उसे अपने लेखन में वैसा ही प्रतिबिंबित करना तो मेरे बूते की बात नहीं, फिर भी आशा है, पंडित जी के राष्ट्रविषयक विचारों का पुनरवलोकन करने के इस विनम्र प्रयास में पाठक रुचि लेंगे।

-चं.प. भिशीकर

मेघना, पत्रकारनगर
पुणे-499096

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1

प्रस्ताविक

पं. दीनदयाल उपाध्याय स्वतंत्रता के बाद के काल के एक वर्द्धमान राजनीतिक दल के प्रमुख नेता एवं संगठक थे। अतः उनके लिये अपरिहार्य था कि देश के सम्मुख उपस्थित होने वाली दैनिक समस्याओं, सरकारी रीतिनीतियों, चुनावों, आन्दोलनों, विपदाओं तथा दल-प्रचार आदि बातों की ओर ध्यान देते। राजनीतिक दल के कार्यकर्ताओं को इन बातों से छुटकारा नहीं मिल सकता। किन्तु दीनदयाल जी कुछ संस्कारों तथा जीवनदृष्टि को आत्मसात् करने के बाद ही राजनीतिक क्षेत्र में उतरे थे। हो सकता है कि यह एक ईश्वरीय संयोग हो। किंबहुना, राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीयत्व का विशुद्ध विचार प्रभावी करने के उद्देश्य से ही उन्होंने राजनीतिक दल का काम करना स्वीकार किया था ! अतएव उन्होंने अपने आपको केवल तात्कालिकताओं में ही उलझाये नहीं रखा, न ही मात्र सत्ता-प्राप्ति के सीमित संदर्भ में परिस्थिति का विचार किया। अदूरदर्शी समझौतों को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। वे प्रवाह-पतित नहीं बने। राजनीतिक नेता होते हुए भी उन्होंने सदैव राष्ट्रनिर्माण के कार्य को अंग ही माना और साधन भी। इसीलिए उनके राष्ट्र-चिंतन की परिधि तो विशाल है ही, साथ ही वह चिन्तन मूलगामी भी है। अनेक प्रचलित मान्यताओं एवं धारणाओं को झकझोरते हुए उन्होंने यहाँ के राष्ट्रजीवन की स्वाभाविक धारा का दर्शन कराया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावात्मक रचना

राष्ट्रचिंतन करते समय स्वाभाविकतः उनके सम्मुख अनेक प्रश्न उपस्थित हुए। उनके उत्तर राष्ट्रीय वास्तविकताओं को ध्यान में रखकर उन्हें देने थे। हमारी मातृभूमि का विभाजन क्यों हुआ? खंडित भारत अंग्रेजों की दासता से मुक्त होकर, स्वाधीनता-संग्राम में काँग्रेस के माध्यम से काम करने वाले दिग्गजों के हाथों में सत्ता की बागडोर आने के बाद भी राष्ट्र सुदृढ़ और एकात्म क्यों नहीं हो पा रहा? अपने त्याग का मूल्य वसूलने की इतनी शीघ्रता नेता लोग किसलिए दिखा रहे हैं? आंतरिक कलह लगातार बढ़ते ही क्यों जा रहे हैं? अपने राष्ट्र को समर्थ एवं समृद्ध बनाने का उत्साह और स्फूर्ति जनता में क्यों नहीं पायी जाती? लोकतंत्र की व्यवस्थाएँ उत्तरोत्तर भ्रष्ट क्यों होती जा रही हैं? विदेशी हस्तक्षेप और परावलंबन क्यों बढ़ता जा रहा है? नाना प्रश्न उठते थे। स्वराज्य के तुरंत बाद इतनी विपरीत अवस्था आने की आशा किसी ने नहीं की थी। अपेक्षा तो यह थी कि किसी ध्येयवाद से प्रेरित होकर राष्ट्र की भलाई के लिए स्वतंत्र भारत की सरकार कार्यरत रहेगी, किन्तु प्रत्यक्ष में इतने सारे प्रश्न खड़े हो गये कि उन पर गम्भीरता से विचार करना अपरिहार्य हो गया। सरकारी स्तर पर जो भी विचार किया जाता, सतही होता था और बहुधा राष्ट्रजीवन के आधारभूत सत्य से विसंगत भी। रोग की योग्य चिकित्सा करने पर ही अचूक उपाय सुलभ होते हैं। अतः पं. दीनदयाल जी सभी समस्याओं के मूल में गये और उन्होंने विश्वास के साथ कहा- "केवल भूमि और उस भूमि पर चलने वाले लोग ही राष्ट्र है, यह अवधारणा गलत है।" स्वाधीनता के आन्दोलन में यही माना गया था कि हिन्दुस्थान में रहनेवाले सब लोगों को मिलाकर यह राष्ट्र है। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों के मानस पर प्रादेशिक राष्ट्रस्वरूप की कल्पना आरूढ़ हो गयी। प्रयास यह हुआ कि देश में रहने वाले सब लोग मिलकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध करें। इसके लिये कतिपय दुराग्रही एवं अपने आपको पृथक् मानने वाले गुटों के आगे असीम अनुनय किया गया। इस प्रादेशिक राष्ट्रीयता की अवधारणा की अशास्त्रीयता एवं अनैतिहासिकता स्पष्ट रूप से लोगों के ध्यान में लाना पं. दीनदयाल जी के चिंतन का प्रमुख भाग था। परन्तु प्रादेशिक राष्ट्रकल्पना को केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गलत बताने से काम चलने वाला नहीं था, अतः उन्हें यह भावात्मक रचना भी प्रस्तुत करनी पड़ी कि राष्ट्र कैसे बनता है और राष्ट्रशरीर को सक्षम रखने के लिये उसकी आत्मा का अवधान कैसे रखना पड़ता है। यह सारा विचार उन्होंने सभी अंगों से और नाना उदाहरण देकर प्रस्तुत किया। आधुनिक विश्व एवं जीवन का पूरा ध्यान रखकर उन्होंने अपना राष्ट्रविचार तर्कशुद्धता से रखा।

दूसरे, उन्होंने कहा कि केवल विदेशी सत्ता को समाप्त करने को ही स्वातन्त्र्य मानने की अवधारणा के शिकार होने के कारण सच्ची स्वतंत्रता की अनुभूति हम नहीं कर पाये हैं। विदेशी सत्ता का केवल विरोध करना ही देशभक्ति नहीं होती। देशभक्ति एक प्रबल भावात्मक प्रेरणा होती है। स्वाधीनता-आंदोलन में केवल अंग्रेजविरोध पर ही प्रमुखता से बल दिया गया। लोगों में भी वही नकारात्मक प्रेरणा निर्मित करने का प्रयास नेताओं ने किया। अंग्रेजविरोधी ही देशभक्त है, ऐसा समीकरण लोकमानस में अंकित किया गया। देश की हर समस्या और लोगों के हर दुःख के पाप का घड़ा विदेशी सत्ता के माथे पर फोड़कर लोगों में पराये शासन के प्रति विरोध जगाने का प्रयास उन दिनों होता था। इस नकारात्मक देशभक्ति की एकांगी भावना को ही सँजोते रहने के कारण अन्य भावात्मक अंगो की घोर उपेक्षा होती रही। किसका राष्ट्र? स्वतंत्रता किसलिए? स्वतंत्रता के बाद हम किस प्रकार का समाज-जीवन बनाना चाहते हैं? किस मूल्य-व्यवस्था को हम स्वीकारने वाले हैं? आदि प्रश्नों का साधक-बाधक विचार किसी ने किया नहीं। संघर्ष करते समय इन प्रश्नों के असंदिग्ध उत्तर भी किसी ने लोगों के सम्मुख रखे नहीं। किसी के विरोध पर आधारित देश भक्ति की इस भावना के कारण ही यहाँ हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयास किये गये। उसके लिए निरन्तर उठापटक होती रही।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संग्राम से कन्नी काटने वाले छोटे -मोटे गुटों का अनुनय 1947 में खंडित स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले की राजनीति का एक उल्लेखनीय अंग बन बैठा था। 'आप जो चाहें, दे देंगे, किन्तु देश का विभाजन कराने के अपने हठ को छोड़ दीजिए' इस अनुनय को बैरिस्टर जिन्ना द्वारा ठुकरा दिये जाने के कारण ही अन्त में हारकर खण्डित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतंत्रता का दान काँग्रेस के थके-हारे नेताओं ने स्वीकार कर लिया। अंग्रेज गये और भावात्मक देशभक्ति की उपेक्षा करने के कारण अटल बनी परिणाम-परम्परा हमारे सामने आने लगी।

स्वतंत्रता के बाद आयी विकृति

वे विदेशी राज्यकर्ता, जिनके विरोध में लगभग पचास वर्ष तक लगातार नारे लगाये जाते रहे थे, भारत के राजनीतिक रंगमंच से एकाएक चल दिये और विरोधी नकारात्मक देशभक्ति के वातावरण में पले लोगों के सामने एक रिक्तता उत्पन्न हो गयी। रचनात्मक देशभक्ति का संस्कार न होने के कारण राष्ट्र के बारे में आँखों के सम्मुख कोई महान उद्देश्य नहीं रहा। स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में ब्रिटिशविरोधी भूमिका लेते समय जो थोड़ा-बहुत स्वत्व का बोध प्रकट हो रहा था, उसका भी लोप हो गया और अर्थ एवं काम के चारों ओर ही जीवन का ताना-बाना बुना जाने लगा। भोग की आसक्ति तुरन्त प्रबल हो गयी। अंग्रेज के रूप में विदेशी शत्रु के चले जाते ही विरोध का उबाल आपसी कलहों में उतारने की प्रवृत्ति प्रबल होने लगी। भौतिक क्षेत्र में तथाकथित विकसित या प्रगतिशील देशों द्वारा की गयी प्रगति से आँखें चौंधिया जाने के कारण हीनता की भावना से परानुकरण का सहारा लेने के प्रयास विकास के नाम पर किये जाने लगे। संविधान के निर्माण से लेकर ठेठ लोकतंत्रीय संस्थाओं, उत्पादन की प्रणाली, रहन-सहन और व्यष्टि-समष्टि के संबंधों की परिकल्पनाओं तक इसी परानुकरण की विपुलता हमें आज भी देखने को मिलती है। यह बहुत ही शोचनीय अवस्था है कि भारत जैसे प्राचीन देश में राजनीतिक स्वतंत्रता और मानसिक दासता का इतना दयनीय दृश्य पाया जाये। यह दृश्य भावात्मक देशभक्ति की प्रेरणा के अभाव के कारण पैदा हुआ है। आज आँखों के सम्मुख समूचा राष्ट्र, उसकी सुरक्षा, एकात्मता, सामर्थ्य-संवर्द्धन, समस्त जनता की सुख-समृद्धि और प्रत्येक व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का उन्नत लक्ष्य नहीं है। परिणामतः स्वार्थ प्रबल हो गया है। अनेक छोटे-मोटे गुट अपने संकीर्ण स्वार्थ के लिये झगड़ा करने पर उतारू हो रहे हैं। एकात्मता के स्थान पर विभेदों के भूतों का नंगा नाच हमारी आँखों के सम्मुख हो रहा है। ऐसी विकृतियों की कारणमीमांसा और उनके निराकरण का मार्ग पं. दीनदयाल जी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रचिन्तन का महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। इस चिंतन का दिशाबोध उन्होंने निम्नानुसार किया है-

"आज हमारे जीवन में जो विकृतियाँ उत्पन्न हो गयी हैं वे सभी आसक्तिमूलक हैं। सेवा का स्थान अधिकार ने ले लिया है। अत्यधिक अर्थवादी दृष्टिकोण स्वीकार करने के कारण ही अनेक विकृतियाँ पैदा हो गयी हैं। मानवीय भावना और जीवनमूल्यों का कोई महत्त्व नहीं रहा है। चरित्र, योग्यता एवं गुणों के स्थान पर पैसा ही व्यक्ति की प्रतिष्ठा का आधार बन गया है। यह स्थिति विकृतिमूलक है। हमारी धारणा यह होनी चाहिए कि अर्थ हमारी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने का साधन मात्र है, साध्य कदापि नहीं। तात्पर्य यह कि हमें अपने जीवनविषयक दृष्टिकोण को बदलना होगा। दृष्टिकोण में यह परिवर्तन भारतीय संस्कृति के आदर्शों के आधार पर ही किया जा सकता है। इस गौरवमयी संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा करने से ही राष्ट्रजीवन में सर्वत्र व्याप्त विकृतियों का शमन एवं निराकरण हो सकेगा।"

(राष्ट्रजीवन की दिशा : पृष्ठ-77)

राष्ट्र-निर्माण का आशय

इससे स्पष्ट हो जायेगा कि पं. दीनदयाल जी को राष्ट्रभक्ति का भावात्मक आशय क्या अभिप्रेत था। अपने लेखों, भाषणों और प्रत्यक्ष व्यवहार द्वारा उन्होंने इस आशय का विशदीकरण करने का भरसक प्रयास किया है। सभी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं द्वारा अनुभव की गयी समस्याएँ प्रायः एक सी ही होती हैं। गरीबी, बेकारी, आर्थिक असमानता, सामाजिक उच्च-नीचता और जाति, प्रांत, पंथ तथा भाषा आदि के आधार पर अधिकतम रातनीतिक एवं आर्थिक लाभ ऐंठने की स्पर्धा की अनिष्टता सभी नेता बताया करते हैं। अंतर होता है समस्याओं की कारणमीमांसा एवं उनके निराकरण की उपाय योजनाओं में। अनेक नेताओं द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण दूर की कौड़ी की भाँति यहाँ तक जा पहुँचता है कि हिंदुओं द्वारा संगठित होने का प्रयास किये जाने के कारण मुसलमानों में असुरक्षा की भावना बढ़ी और उन्होंने अपने लिए अलग राज्य बनाने की जिद की। पं. दीनदयाल जी कहा करते थे कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता को अनुभव करने और किसी योजना को कल्याणकारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाने के लिये राष्ट्र की प्रकृति, संस्कृति और आत्मिक क्षुधाओं का ध्यान रखा जाना चाहिए। किन्तु हमारे यहाँ ठीक बात नहीं हो सकी। राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन का अर्थ यह कदापि नहीं कि अतीत को फिर से ज्यों का त्यों खड़ा करने का आग्रह रखा जाये। भारत की पराधीनता के हजार वर्षों में यहाँ और अन्यत्र भी पर्याप्त स्थित्यंतर हो चुके हैं। उनकी उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा घड़ी की सुइयों को उल्टा घुमाने का प्रयास हितकारी नहीं होगा। अतः आग्रह रखना है इस देश द्वारा हजारों-हजार वर्षों तक सँजोये गये जीवनमूल्यों का। जो नयी बातें हमारे लिए कल्याणकारी हो सकती हैं उन्हें हमारे जीवनमूल्यों के साथ सुसंगत अर्थात् राष्ट्रनुकूल बनाने के बाद ही स्वीकारना चाहिए। पाश्चात्य देशों में वहाँ की परिस्थिति के अनुसार पैदा हुई विचारधाराओं, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन के बारे में उनकी कल्पनाओं, स्वीकृत प्रणालियों, विविध संस्थाओं और उनके द्वारा अपनायी गयी जीवन-प्रणाली का निर्बुद्ध अनुसरण हमारे लिए हानिकर है। उन्होंने डंके की चोट चेतावनी दी कि देश को राजनीतिक स्वतंत्रता भले ही मिल गयी हो, तब भी परानुकरण, आत्मविस्मृति और हीनता की भावना से सच्चे स्वतंत्र जीवन का मार्ग अवरुद्ध हो गया है।

यही दीनदयाल जी के चिन्तन की आत्मा है। हमारे प्रचीन राष्ट्र का अन्य राष्ट्रों से भिन्न अपना एक व्यक्तित्व है। उसकी अपनी एक अस्मिता है। उसका अपना एक प्रकृतिधर्म बना है। उसका स्वत्व सिद्ध हो चुका है। काल की कसौटी पर खरी उतरी एक मूल्य-व्यवस्था को इस देश ने परिवर्द्धित किया है। उस राष्ट्रीय प्रवृत्ति के साथ सुसंगत बातें ही लोगों के लिए सुखकारी, सन्तोष देने वाली तथा अपने विकास के लिए पोषक होंगी। जो उसके प्रतिकूल हों, वे सब क्लेशदायक सिद्ध होंगी। इसे समझाने के लिए दीनदयाल जी अनेक बार एक उदाहरण दिया करते थे कि विदेशी विचारधाराओं में व्यक्ति एवं समाज, शासक एवं प्रजा, संप्रदायों की पुरोहितसत्ता एवं भौतिकसत्ता, धनवान एवं निर्धन आदि में संघर्ष को स्वाभिक माना है। अधिकार उन सबमें बड़ी खींचातानी का प्रमुख विषय है। विगत तीन-चार सौ वर्षों में पाश्चात्य राजनीति, समाजनीति एवं अर्थनीति को इन्हीं संघर्षों में से क्रिया-प्रतिक्रिया न्याय से आकार मिला है। परन्तु भारतीय जीवन विचार में सारा बल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समन्वय पर है, संघर्ष पर कदापि नहीं; कर्तव्य पर है, अधिकार पर नहीं; सहयोग एवं समावेशकता पर है, विद्वेष एवं 'मेरी ही बात ठीक' के दुराग्रह पर नहीं। यह हमारी सहज राष्ट्रीय प्रकृति। किन्तु इस वास्तविकता को ध्यान में लिये बिना सामाजिक, राजनीतिक एवं रचना का प्रयास अनिवार्यतः विसंवाद एवं संघर्ष-निर्माण का निमित्त बन गया। विदेशियों द्वारा हमारे मनमस्तिष्क में उद्देश्यपूर्वक घुसायी गई असत्य एवं उटपटाँग धारणाओं के शिकार बनने के कारण हम अपने इतिहास तथा पूर्वजों के बारे में लज्जा अनुभव करने लगे। स्वजीवन के इस आत्मघातक अधिक्षेप को प्रगतिशील एवं बुद्धिवाद का लुभावना नाम दिया जाने लगा। भावात्मक देशभक्ति का सुदृढ़ आधार छूट जाने के कारण नेताओं में चरित्रभ्रष्टता घुस गयी और गहरे पैठती चली गयी।

आत्मावलोकन की प्रेरणा

पं. दीनदयाल जी के विवेचन के इस केन्द्रवर्ती सूत्र को ध्यान में रखने से आज के संभ्रम एवं राष्ट्रीय पतन के सम्पूर्ण इतिहास का कारण स्पष्ट हो जाता है। साथ ही इस पर भी प्रकाश पड़ता है कि आज राष्ट्रीय पुनरुत्थान एवं स्वतंत्रता की सच्ची सुखानुभूति के लिए क्या करना चाहिए। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम परावलोकन करने के बजाय आत्मावलोकन करने वाले बनें। आत्मसाक्षात्कार की दिशा में मनन, चिंतन, अध्ययन एवं प्रत्यक्ष आचरण करने के लिए अग्रसर हों। राष्ट्र जब तक अपने आत्मस्वरूप को नहीं पहचानता, उसमें चेतना को जगाया नहीं जा सकेगा, उसके सारे सुप्तासुप्त गुणों का यथार्थ आह्वान नहीं किया जा सकेगा, न ही भावात्मक आशय से परिपूर्ण राष्ट्रनिर्माण संभव हो पायेगा। स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन चलाते समय और अंग्रेजों के यहाँ से चले जाने के बाद भी हमने जो भूल की, उसके दुष्परिणामों का निराकरण राष्ट्रस्वरूप का बोध जगाकर ही किया जा सकता है। इसके लिए तात्विक एवं ऐतिहासिक भूमिका से यह जाँचना-परखना नितान्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि राष्ट्र क्या है, उसका निर्माण कैसे होता है और उसके उत्थान एवं पतन के मूलभूत कारण क्या होते हैं। यह कदापि आवश्यक नहीं कि विदेशियों द्वारा पढ़ाये गये इतिहास को सच मानें और उनके द्वारा हिन्दुस्थान के बारे में व्यक्त मत को स्वीकार कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लें। हमें चाहिए कि अपनी स्वतंत्र प्रतिभा से सारा अन्वयार्थ स्वयं करें। लगातार गलत प्रयोग करते रहने के कारण अनेक शब्दों के सर्वथा गलत अर्थ जनमानस में रूढ़ हो गये हैं। अनेक भ्रांतियों को स्थापित सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा मिल गयी है। इस सारी धुन्ध को दूर कर यह राष्ट्र विशुद्ध रूप में आत्मदर्शन करे, तभी उसका कर्तृत्व उफान लेकर उठेगा। पं. दीनदयाल जी अपने देश को उस गन्तव्य पर पहुँचाने के लिए व्यग्र थे, किन्तु दुर्भाग्य से 1968 में अकस्मात् किये गये हत्यारे आक्रमण के वे शिकार हो गये।

इस विचारमंथन का महत्त्व

1968 से पूर्व दीनदयालजी ने जिस चिंतन एवं विशुद्ध प्रेरणाओं की आवश्यकता को अनुभव किया, उन्हें बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में देश के सम्मुख रखा। उनकी मृत्यु के बाद इन 18 वर्षों में विश्व तथा हमारे देश में चले घटनाचक्र को देखते हुए तो उस बोध को जगाने की आवश्यकता आज और भी अधिक तीव्रता से प्रतीत होती है। आज राष्ट्रजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विचारकों को स्वदेशी विचारों एवं नीतियों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। हम कहाँ पर भूल कर गये हैं, देश में आज ऐसी भयावह स्थिति क्यों दिखाई देती है, समस्याएँ सुलझने के स्थान पर नयी जटिल समस्याएँ क्यों खड़ी हो रही हैं और जीवन इस प्रकार अधोमुखी क्यों बनता जा रहा है, इसका पुनर्विचार होने लगा है। यह पुनर्विचार केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं रहा है, न ही वह केवल भारत में ही सिमट गया है। एक प्रकार से समूचा मानव-जीवन, उसके लक्ष्य, विज्ञान तथा यंत्र-युग के भले-बुरे परिणाम, आधुनिक समय का समाजचिंतन, हिंदुस्थान के राष्ट्रजीवन में पाया जाने वाला विस्मयकारी सातत्य और उत्तरोत्तर विनाश की खाई की ओर फिसलते जा रहे मानव-समूह को उन्नति की दिशा दे सकने वाला जीवन-दर्शन आदि सभी जीवन-स्पर्शी प्रश्नों का आज चिंतन हो रहा है। समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद, व्यक्ति-स्वातंत्र्यवाद आदि विचारधाराओं की एकांगिता एवं मर्यादाओं का प्रत्यक्ष अनुभव करने के कारण यह चिंतन अधिक मूलगामी होता जा रहा है। इन प्रश्नों पर प्राचीन भारत में जो विचार किया जा चुका है और भारत ने उनके जो उत्तर खोज लिये हैं, अध्ययनकर्ताओं के आकर्षण का केन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनते जा रहे हैं। इस संदर्भ में भी पं. दीनदयाल उपाधयाय द्वारा किये गये विचारमंथन का महत्त्व विशेष रूप में अनुभव किया जा रहा है। कारण, यद्यपि पं. दीनदयालजी रा.स्व.संघ के आदेश के अनुसार तत्कालीन राजनीति में उतरे थे, उनकी प्रकृति समूचे मानव-समाज के शाश्वत कल्याण की चिंता करने वाले निःसंग ऋषि की थी। किसी स्वार्थ की दुश्छाया उस पर नहीं पड़ी थी। उनके चिंतन की उड़ान समूची मानवता को अपने पंखों में समेटने वाली थी। उनका राष्ट्रविषयक विचार मानवकल्याणकारी चिंतन का ही एक चरण था। इसीलिए आज की स्थिति में उसे ठीक से समझ लेना चाहिए। इस विचार की विशेषता यह है कि वह किसी संप्रदायवादी संकीर्ण भूमिका या विरोधात्मक भावना के साथ निगड़ित नहीं है, अपितु पूर्णतः भावात्मक एवं रचनात्मक है। किसी भी समस्या की उसमें टालमटोल नहीं है। प्रत्येक प्रश्न का समाधान कैसे किया जाय, इसका दिशाबोध उसमें है। मुख्य बात यह है कि अपने प्राचीन राष्ट्र के जीवन लक्ष्य का सूत्र उसमें अक्षुण्ण भविष्य के निर्माण की आकाँक्षा को जगाकर पंडितजी ने अपने विचारों की रचना की है।

स्वराज्य के बारे में व्याप्त आज के वैचारिक एवं व्यावहारिक संभ्रम को दूर करना हो तो पं. दीनदयालजी के राष्ट्रविचार के विविध पहलुओं को ठीक से समझ लेना होगा। भारतवर्ष के वैभवशाली राष्ट्रजीवन का सही आशय क्या है, इसे ठीक से ध्यान में लेकर तदनुसार आदर्शवाद को जगाना होगा। उसी दिशा में आगामी पृष्ठों में अल्प से प्रयास किया है।

○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2

यह हिंदू राष्ट्र ही है!

ऊपर पं. दीनदयाल जी के विचार, उनका चिंतन, उनके निष्कर्ष आदि का जो उल्लेख किया गया है, वह केवल सांकेतिक ही है। कारण, दीनदयाल जी सरीखे लोगों के विचार या जीवन में कोई पृथगात्मता नहीं होती। परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार उनके द्वारा राष्ट्रीय परंपरा ही मुखर होती रहती है। भारत की भूमि पर हजारों वर्षों तक पल्लवित-पुष्पित होते रहे जो आदर्श तथा विचारधन सातत्य के साथ सब प्रकार की परिस्थितियों में टिके रहे, उन्हीं की अभिव्यक्ति नये संदर्भ में पं. दीनदयाल जी जैसे तत्त्वचिंतक अपनी असाधारण प्रतिभा से करते रहते हैं। राष्ट्रजीवन के सनातन सूत्र के वे विशिष्ट काल में भाष्यकार होते हैं। उनके द्वारा निरूपित तत्त्व नया नहीं होता उन्हें तो समाज को हुई स्वत्व की विस्मृति दूर कर उसकी चेतना को जाग्रत करने की लगन लगी होती है, अतः उनके विवेचन को केवल नया संदर्भ प्राप्त होता है।

पं. दीनदयाल जी के जीवन का इस दृष्टि से विचार करने पर दिखाई देता है कि कुशाग्र सत्यान्वेषी मेधा के साथ ही उन्हें राष्ट्रीय संस्कार भी मिले थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्पर्क में वे 1937 में आये और 1951 तक संघकार्य में ही पूर्णतः तल्लीन रहे। इस अवधि में उनके चिंतन, विचार एवं जीवनव्यवहार को सुदृढ़ अधिष्ठान प्राप्त हुआ। वे सरसंघचालक श्री गुरुजी के निकट संपर्क में आये और संघ के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रचिंतन के साथ एकरूप हो गये। मातृभूमि की भक्ति के रंग में वे आपादमस्तक रंग गये। संघ द्वारा असंदिग्ध रूप में स्वीकृत विचार हिंदू राष्ट्रविचार ही है। वही पं. दीनदयाल जी के राष्ट्रचिंतन का आधारभूत विचार है। यह नहीं कि हिंदू राष्ट्र शब्द का प्रयोग या हिंदू राष्ट्र का सिद्धांत संघ की कोई नयी खोज है। संघ-संस्थापक डॉ. हेडगेवार ने ठीक वही विचार प्रकट किया जो विवेकानंद, अरविंद, तिलक, सावरकर आदि समाज-नेताओं ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के विचार के नाते सहज प्रकट किया था। इस भूमि पर रहने वाले सभी लोगों का यह राष्ट्र है, यह प्रादेशिक राष्ट्रवाद का विचार है। विश्व में कहीं भी केवल भूप्रदेश और उस पर रहने वाले लोगों को राष्ट्र नहीं माना जाता। किन्तु हमारे देश में पाश्चात्यों द्वारा उच्चारण की सुविधा के लिए प्रचलित 'इंडियन' शब्द ने बड़ा संभ्रम उत्पन्न किया। हिंदू और हिन्दुस्थान का ऐतिहासिक एवं प्राकृतिक विचार कबाड़खाने में डाल दिया गया और 'इंडियन' शब्द का अनुवाद 'हिन्दी' किया जाने लगा। तब स्वाभावतः 'इंडियन नेशनलिज्म' का अनुवाद भी हिंदी में 'राष्ट्रवाद' किया गया। हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी को यहाँ के 'राष्ट्रीय' (नेशनल्स) मानते हुए ब्रिटिश शासन के विरोध में इन सबकी राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का प्रयास लगातार होता रहा। इस सबके बाद भी 1920 तक जबकि गांधी जी के नतृत्व में काँग्रेस द्वारा खिलाफत आंदोलन को गोद लिया गया, राष्ट्रीयता की अवधारणा के बारे में उतना संभ्रम जनमानस में नहीं होता था। काँग्रेस की भूमिका में तब तक मुस्लिम-तुष्टीकरण की नीति का व्यत्ययकारी प्रवेश नहीं हो पाया था। किंतु उसके बाद अवश्य ही एक ओर इस्लामी सांप्रदायिकता कट्टर एवं आक्रामक बनती गयी और दूसरी ओर हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए काँग्रेस के नेताओं ने राष्ट्रहित की घोर अवहेलना प्रारंभ कर दी। उस समूचे इतिहास का विवरण देने का यह स्थान नहीं। ध्यान में केवल इतना ही लेना है कि राष्ट्रीयता का विचार 1920 से 1947 के बीच चले स्वाधीनता-आंदोलन में विकृत हो गया और उस विकृत विचार को ही सच्चा राष्ट्रीय विचार निरूपित करने का प्रयास बड़े-बड़े नेताओं द्वारा किया गया। उससे भिन्न विचार पर सांप्रदायिकता की मुहर लगायी जाने लगी। हिंदुभूमि के सपूतों को उनके अपने देश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सांप्रदायिक घोषित किया जाने लगा।

इस मानसिक संभ्रम के कारण राष्ट्र के भवितव्य के लिए उत्पन्न हो सकने वाले संकट को समझते हुए ही डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार ने घोषित किया - 'यह हिंदू राष्ट्र है'। यह संकट उन्हें बहुत स्पष्ट दिखाई दे रहा था। हिंदुस्थान में हिंदू समाज ही यथार्थ राष्ट्रीय समाज होने के कारण उसका संगठन एक राष्ट्रीय संगठन है। और संगठन के माध्यम द्वारा हिंदू समाज को सामर्थ्यशाली बनाये बिना विपदाओं के चक्रव्यूह से अपने राष्ट्र को उबारा नहीं जा सकता, यह था उनका निष्कर्ष। राष्ट्र की पुनर्रचना के लिए उन्होंने संघ की स्थापना की। पं. दीनदयाल जी ने इस विचार को न केवल स्वीकार किया, अपितु उसे उन्होंने अपने नित्य चिंतन, अध्ययन एवं प्रगाढ़ श्रद्धा का विषय बना लिया। हिंदुस्थान का इतिहाससिद्ध राष्ट्रस्वरूप, उसके आधारभूत मूल्य, भविष्य में किया जाने वाला राष्ट्रनिर्माण आदि विषयों के मूल में वे पहुँचे। सरसंघचालक श्री गुरुजी के तर्कनिष्ठ प्रतिपादन का प्रभाव भी उन पर स्पष्टतः रहा। राष्ट्रीयत्व के बारे में संघ का भावात्मक विचार दीनदयाल जी के रोम-रोम में भर गया और श्री गुरुजी की इच्छानुसार उन्होंने एक राजनीतिक दल का काम करने का दायित्व जब उठाया तब भी वे प्रादेशिक राष्ट्रवाद की धारा में बह नहीं गये, प्रत्युत् हिंदू जीवनधारा की राष्ट्रीय जीवनधारा के साथ अभिन्नता का ही वे सहज प्रतिपादन करते गये। अपने विचारों की सत्यता में उनकी पूरी आस्था थी।

स्वदेशी चिंतन का अभाव

1947 में खंडित देश को राजनीतिक, स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद जो कुप्रवृत्तियाँ क्रमशः पुष्ट होती गयीं, उनकी कारण-मीमांसा उन्होंने संघ-विचार के अनुरूप ही की थी। वे स्पष्ट देखते थे कि हमारे संविधान, अर्थनीति, समाजव्यवस्था के लक्ष्यों, वैभवशाली राष्ट्रनिर्माण के आदर्शों आदि में स्वदेशी चिंतन कहीं ढूँढे भी नहीं मिलता। भारत हजारों वर्ष के इतिहास वाला एक प्राचीन राष्ट्र है। यहाँ के महान एवं निःस्वार्थ मनीषियों ने व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से मानव-जीवन का गहरा चिंतन किया है और उसके प्रकाश में ही हमें अपना भावी मार्ग खोजना होगा, इसका बोध आज कहीं भी रह नहीं गया है। अपनी इस व्यथा को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं. दीनदयाल जी ने एक लेख में बहुत ही प्रभावी शब्दों में मुखरित किया है। वे लिखते हैं -

'1947 में हम स्वतंत्र हुए। अंग्रेज भारत छोड़कर चले गये। राष्ट्रनिर्माण के प्रयासों में सबसे बड़ी बाधा हम उन्हें ही मानते थे। वह बाधा दूर हो गयी। तब सबके सामने अकस्मात् प्रश्न उपस्थित हुए कि महत्प्रयासों से प्राप्त इस स्वतंत्रता का आशय क्या है? हम यहाँ किस प्रकार का जीवन खड़ा करना चाहते हैं? राष्ट्र के नाते भारत के जीवनादर्श एवं जीवन के निकष क्या हैं? किन्तु राष्ट्रजीवन का विशुद्ध साक्षात्कार न होने के कारण हम इस स्वतंत्रता का उपयोग राष्ट्रीय आदर्शों को अपने जीवन में उतारने के लिए नहीं कर सके। परायों का अनुसरण करने के चक्कर में ही हम पड़ गये। इतने कि संविधान बनाते समय भी हमने अपने स्वाभाविक राष्ट्रीय आदर्शों को उसमें प्रतिबिंबित नहीं होने दिया। विदेशों में उद्घोषित सिद्धांतों को जोड़तोड़ करने में ही हमने संतोष कर लिया। इसीलिए आज तक हम इस मूल प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे पाये है कि आखिर हम यहाँ किस प्रकार का जीवन खड़ा करना चाहते हैं? स्वत्व का समुचित बोध न होने के कारण हम अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सके हैं। राष्ट्रीय वैभव के लिए अपने जितने भी प्रयास किये, उनमें इसका बोध कहीं भी नहीं पाया जाता कि राष्ट्रीय वैभव की हमारी अवधारणा क्या है तथा उसका स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास कितने ही लोगों ने किया है, फिर भी यही एक बात उभर कर सामने आती है। इन लोगों द्वारा खोजे गये उत्तर प्रायः भारतबाह्य जीवन-प्रणालियों के आधार पर ही होते हैं। कोई समाजवाद के आधार पर यहाँ समाज-रचना करना चाहते हैं, तो कोई कम्युनिज्म के आधार पर। कुछ अन्य लोग समाजवाद और व्यक्ति-स्वातंत्र्य में तालमेल बिठाने के प्रयास में यहाँ लोकतांत्रिक समाजवाद लाने की बात करते हैं। विदेशों से आयातित विचारधाराओं के आधार पर ही ये सारे प्रयास होते हैं। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में चिंतन का अधार विदेशी विचार-प्रणाली ही रहा है। इससे तो ऐसा लगता है मानो हमारे यहाँ के अति प्राचीन राष्ट्रजीवन में इन सब बातों का कभी विचार ही नहीं किया गया हो, या हमारा राष्ट्रजीवन मात्र थोड़े से वर्षों की ही निष्पत्ति हो। विदेशों से उधार ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गयी विचार-प्रणालियों में हमारे राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति प्रकट नहीं हो सकी है। इसीलिए राष्ट्रमानस को छूने में वे असफल रही हैं। इन विदेशी विचारों से हमारे लोगों को त्याग, परिश्रम और बलिदान की प्रेरणा नहीं मिल सकती। यही कारण है कि आज देश में हताशा का वातावरण दिखाई देता है। राष्ट्र का आत्मविश्वास ढह गया है। कार्य की प्रेरणाएँ समाप्त हो गयी हैं और करोड़ों लोगों का यह विशाल समाज परावलंबी बना जी रहा है।'

(राष्ट्रजीवन की दिशा : पृ. 184-85)

सांस्कृतिक एकता का आधार

पं. दीनदयाल जी ने हमारे राष्ट्र की प्राचीनता, वैभवशाली जीवन की यही परिकल्पनाएँ, यहाँ प्राचीन काल से चलता आया जीवन-दर्शन, राष्ट्र स्वत्व, राष्ट्र का प्रकृतिधर्म आदि जितने भी शब्दप्रयोग प्रचलित किये, उनमें से किसी के बारे में भी उन्होंने गोलमाल बातें कभी नहीं की। उनका सारा चिंतन सुस्पष्ट, पारदर्शी तथा प्रांजल था। मुख्यतः भारत के राष्ट्रस्वरूप को उन्होंने सुस्पष्ट एवं बुद्धिगम्य बनाकर प्रस्तुत किया। इस विषय में उनके चिंतन की दिशा को ठीक से समझ लेना आवश्यक है। कारण, राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए यहाँ के राष्ट्रजीवन का दर्शन ही आधार बन सकता है। किन्तु ब्रिटिश शासनकाल में प्राप्त शिक्षा, जानबूझ कर फैलाये गये अपसिद्धांत, उन्हें आँखें मूँदकर स्वीकारने की हमारे पढ़े-लिखे लोगों की प्रवृत्ति, काँग्रेसी नेताओं द्वारा स्वतंत्रता से पूर्व चलायी गयी नीतियाँ और स्वातंत्र्य के बाद भी अपने सत्तास्वार्थ के लिए उनके द्वारा चालू रखा गया विकृत राष्ट्रवाद का अभिनिवेशपूर्ण समर्थन, आदि बातों के कारण सांप्रदायिकता एवं राष्ट्रीयता ('कम्युनलिज्म' और 'नेशनलिज्म') शब्दों के अर्थ ही विपर्यस्त बन गये हैं। राष्ट्रमानस को इस संभ्रम से मुक्त करना एवं राष्ट्र-अवधारणा को सहज भावात्मक आशय प्राप्त करा देना राष्ट्रनिर्माण की प्रथम आवश्यकता है। राष्ट्रस्वरूप का स्पष्ट बोध हो, तो दो बातें साध्य हो जाती हैं। पहली यह कि राष्ट्रीय हितसंबंधों का समुचित बोध जागता है और दूसरे, राष्ट्रीय स्वत्वबोध होने के कारण जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रगति करने के प्रयासों को उचित दिशा प्राप्त होती है। किन मूल्यों को माना जाये, इसको निश्चित करने के लिए एक निष्कर्ष भी उपलब्ध हो जाता है। राष्ट्र की सहज विशेषताओं तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके नियत जीवन--कार्य के प्रकाश में सुख-समृद्धिपूर्ण भविष्य की ओर मार्गक्रमण किया जा सकता है तथा अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच एकसूत्र को बनाये रखना संभव हो जाता है।

साररूप में कहा जा सकता है कि भारत के हजारो वर्ष के इतिहास को ध्यान में रखकर पं. दीनदयाल जी ने 'सांस्कृतिक एकता' को हमारे राष्ट्रजीवन का आधार माना है। प्रश्न है, कौन सी संस्कृति? उसे आप आर्य संस्कृति कहें, भारतीय संस्कृति कहें, वैदिक संस्कृति कहें अथवा अन्य कोई नाम दें, उसका स्वरूप हिंदू संस्कृति ही है। इस संस्कृति का विकास इस भूमि में हिंदू नाम से पहचाने जाने वाले प्राचीन समाज ने ही किया है और अनादि काल से हमारा निर्विवाद अस्तित्व हिंदू राष्ट्र के रूप में ही रहा है। पं. दीनदयाल जी ने यह कोई नया आविष्कार नहीं किया था। अति प्राचीन समय से ही सांस्कृतिक एकता ही हमारी एक राष्ट्रीयता का आधार रही है। यहाँ विभिन्न समयों में भिन्न-भिन्न प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाएँ रही हैं। एकछत्र साम्राज्यों का निर्माण करने वाले चक्रवर्ती सम्राट् यहाँ हुए हैं। उसी प्रकार देश के विभिन्न भागों में छोटे-छोटे राज्य भी यहाँ रहे हैं। विदेशियों के आक्रमण यहाँ अनेक हुए, उनका सामना करते हुए जय-पराजय पल्ले पड़ते रहे, किन्तु स्वत्व और परकीयत्व का बोध कम से कम ब्रिटिश शासन के आने तक तो यहाँ बराबर रहा है और उसके बारे में लोकमानस में कभी कोई भ्रांत धारणा नहीं रही है। यद्यपि हिंदुओं ने आक्रांताओं की नौकरी भी की, पर उनमें यह बोध सदा रहा कि जिसकी नौकरी कर रहे हैं वह बाहरी है। अतः यह भाषा सर्वथा गलत है कि यहाँ नया राष्ट्र बनाना है या यह नया राष्ट्र उद्भूत हो रहा है। भारत को प्राप्त यह राष्ट्रस्वरूप केवल भूमि और जन के सम्मिलन से नहीं मिला है। किन्हीं भौगोलिक सीमाओं की परिधि में रहने वाले सभी लोगों का एक राष्ट्र होता है, यह भ्रामक धारणा काँग्रेस ने इस देश में प्रसारित की है। विश्व के किसी भी समाज ने उसे स्वीकारा नहीं है। भारत जैसे प्राचीन देश पर तो वह कदापि लागू नहीं होती।

विकास क्रम में अंतर

आधुनिक काल में, अर्थात् विगत लगभग चार सौ वर्ष में पश्चिम के अनेक राष्ट्रों का जन्म हुआ है। राष्ट्रीयता के उनके निष्कर्ष भारत पर ज्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के त्यों लागू नहीं किये जा सकते, न ही उनके विकासक्रम के साथ भारत के विकासक्रम की तुलना की जा सकती है।

पाश्चात्य राष्ट्रों का उदाहरण भारत के संदर्भ में देते समय किन्हीं आधारभूत वास्तविकताओं को ध्यान में लेने के बाद बोलना ही उचित है। पहली यह कि भारत के राष्ट्रप्रेम, एकता, एकात्मता आदि का जन्म या संवर्द्धन परिस्थिति-विशेष की प्रतिक्रिया के नाते नहीं हुआ है। वह पूर्णतः स्वयंभू, भावात्मक एवं क्रांतदर्शी ऋषियों के अलिप्त चिंतन से साकार हुआ है। पाश्चात्य राष्ट्रवाद के उद्‌गम और विकास पर विहंगम दृष्टि डालने पर पाया जाता है कि वह क्रिया-प्रतिक्रिया के नाते ही हुआ है। प्रथमतः दिखाई देता है कि यूरोप के भू-भाग में ईसाई मतावलंबी लोगों का एक समाज फैला था। उनमें राष्ट्रभावना विकसित नहीं थी। पोप का ही आधिपत्य सर्वत्र था। पाश्चात्य परिभाषा में कहा जाय तो धर्म तथा धर्मसंस्था द्वारा निर्मित व्यवस्था का ही समूचे यूरोप पर प्रभुत्व था। किन्तु अपने दैनिक भौतिक जीवन में और उपासना के बारे में पोप का हस्तक्षेप धीरे-धीरे लोगों को अप्रिय लगने लगा। लोगों को पोप एक परायी और साम्राज्यवादी शक्ति लगने लगा। इस पोपविरोधी प्रतिक्रिया में से राष्ट्र और राष्ट्रीयता का बोध उधर प्रबल होता गया। इसीलिए कहना पड़ता है कि यूरोपीय राष्ट्रवाद प्रतिक्रियात्मक है। इस राष्ट्रीयता का पोप की सत्ता के साथ सहजीवन असंभव हो गया। इस प्रतिक्रियात्मक राष्ट्रवाद की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय असहिष्णुता और सहअस्तित्व के लिए भी बाधक होने लगी। वह स्पर्द्धात्मक, स्वार्थी एवं अहंकारी थी। दुर्बलों के शोषण के लिए पोषक थी। उसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीयता के बीच विरोध उत्पन्न हुआ। इसी में एक और बात आ जुड़ी। एक-एक राष्ट्र के समाज के घटकों में मुक्त स्पर्द्धा की भूमिका को स्वीकारने के कारण शोषक एवं शोषित वर्ग उत्पन्न हो गये। यंत्र सभ्यता के विकास के साथ ही यह प्रवृत्ति अधिकाधिक निरंकुश होती गयी। नन्हे बच्चे भी इस चक्की में पिसते गये। इस अतिरेक की, असहिष्णु एवं असंस्कृत राष्ट्रवाद एवं लाभ लालसा की फिर से प्रतिक्रिया होना अपरिहार्य था। उस प्रतिक्रिया से कम्युनिज्म का जन्म हुआ। इस विचारधारा ने धर्म, राष्ट्रीयता एवं राष्ट्र की अवधारणाओं को ही अस्वीकार कर दिया। वर्ग-संघर्ष पर आधारित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्राष्ट्रीय विचारों का समर्थन उसने किया। ऐसे विचारों एवं विकास की प्रक्रिया को भारत के बारे में भी सही मानना कहाँ तक न्यायसंगत होगा? विश्व में राष्ट्रविचार का जब उद्‌गम भी नहीं हुआ था, तब भारत में राष्ट्रविचार पल्लवित एवं विकसित हुआ। वह मानव को स्वतंत्र एवं विशिष्ट ध्येय की ओर अग्रसर करने वाला विचार रहा है।

ज्ञात इतिहास ने तो अपने पहले क्षण से ही हिंदुस्थान को राष्ट्रस्वरूप में देखा है। इस भूमि के साथ हिंदू समाज का माता-पुत्र का नाता, ज्ञात एवं अज्ञात इतिहास ने सदैव देखा है। कालचक्र के साथ कितनी ही उथलपुथल यहाँ कितनी ही बार क्यों न हुई हो, संस्कृति की एक ही धारा यहाँ अक्षुण्ण रूप में सदा बहती रही है। इस धारा में जहाँ वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि साहित्य आता है, वहाँ अपनी तप-साधना के द्वारा भारतभूमि को तीर्थक्षेत्र की पवित्रता प्रदान करने वाले ऋषि-मुनि एवं भगवद्‌भक्त भी आते हैं। पराक्रमी राष्ट्रपुरुषों की मालिका इसमें आती है और इन सबमें अभिव्यक्त होने वाले राष्ट्रीय जीवनादर्श भी। इस समन्वय से भारतीय संस्कृतिधारा पुष्ट हुई है। यहाँ एक ऐसा समाज राष्ट्र के नाते रहता आया है, जिसमें इस संस्कृति ने आंतरिक एकता एवं आत्मीयता की भावना निर्मित की है, इतिहास-प्रवाह में जिसने समान सुख-दुखों को अनुभव किया है, आध्यात्मिक सत्पुरुषों और पराक्रमी वीरवरों की एक ही प्रदीर्घ परंपरा जिसे प्राप्त है और मातृभूमि के बारे में जिसकी आकाँक्षाएँ एकरूप हैं। राष्ट्रीयता को सिद्ध करने के लिए जहाँ एक भूखंड की आवश्यकता होती है, वहाँ उस भूखंड पर रहने वाले समाज की मानसिक भावभूमि की विशिष्ट संरचना भी अभिप्रेत होती है, उनके जीवन के लक्ष्य भी समान होने होते हैं। किसी एक भूखंड पर रहने मात्र से सभी वहाँ के राष्ट्रीय नहीं हो जाते। पं. दीनदयाल जी ने 'राष्ट्र : प्रकृति और विकृति' शीर्षक लेख में इसी संकल्पना को चुने हुए उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है।

इतिहास-सिद्ध सत्य

वे लिखते हैं : 'सत्य केवल एक भौतिक निकाय नहीं हुआ करता। देश में रहने वाले लोगों के अंत:करण में अपनी भूमि के प्रति असीम श्रद्धा की भावना का होना राष्ट्रीयता की पहली आवश्यकता है। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धाभाव के कारण ही हम अपने देश को मातृभूमि कहते हैं। मातृभूमि के प्रति श्रद्धा का भी कोई आधार होता है। प्रदीर्घ समय तक एक देश में रहने के कारण साहचर्य से आत्मीयता का भाव जागता है। शनैः शनैः राष्ट्र का एक इतिहास बनता जाता है। कुछ बातें राष्ट्रीय गौरव की, तो कुछ लज्जास्पद बन जाती हैं। गौरवास्पद बातों को स्मरण कर हम गौरव अनुभव करते हैं और लज्जास्पद बातों से लज्जा। मुहम्मद गोरी और मुहम्मद गजनवी द्वारा भारत पर किये गये आक्रमणों का विचार करते समय स्वाभाविकतया हमारा चित्त व्यथित होता है। पृथ्वीराज एवं अन्य देशभक्तों के बारे में हमें आत्मीयता का अनुभव न होता हो और आक्रांता के प्रति उसके मन में प्रेम उभरता हो तो यही मानना पड़ेगा उस व्यक्ति में राष्ट्रीयता की भावना नहीं है। हम महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी या गुरु गोविंदसिंह का स्मरण करते हैं तो हमारा मस्तक उनके सम्मुख आदर और श्रद्धा से झुक जाता है। इसके विपरीत औरंगजेब, अल्लाउद्दीन, क्लाइव या डलहौजी के नाम सामने आते ही हमारे मन में वही भाव जागता है जो विदेशी आक्रांताओं के प्रति स्वाभाविकतः उत्पन्न होना चाहिए। इस प्रकार एक विशिष्ट भूमि पर रहने वाले और मातृभूमि के प्रति विशुद्ध श्रद्धा की भावना हृदय में जगाये रखने वाले ऐसे लोगों का एक राष्ट्र बनता है जिनकी जीवन की ओर देखने की दृष्टि समान होती है, जीवन के आदर्श समान होते हैं, शत्रु-मित्र समान होते हैं और ऐतिहासिक महापुरुषों की परंपरा भी समान होती है।'

वास्तव में भारतीय राष्ट्रीय हिंदू राष्ट्रीयता ही है, इसके बारे में किसी के मन में कोई संदेह नहीं होना चाहिए। कौन सा समाज है जो इस भूमि को अपनी माता मानता है? देवता के स्वरूप में मातृभूमि के प्रति उत्कट भक्तिभावना रखता है? 'त्वं हि दुर्गादशप्रहरणधारिणी' कहकर उसका ध्यान धरता है? किस समाज के राष्ट्रपुरुष एक ही हैं? आपका राष्ट्रपुरुष कौन है, महाराणा प्रताप या अकबर? यह प्रश्न पूछे जाते ही तुरंत राणा प्रताप का चयन कौन सा समाज करता है? ऐसे नाना प्रश्नों का उत्तर अनिवार्यतः एक ही आता है कि ऐसा समाज हिंदू समाज ही है। यह एक अतीव भावात्मक (पॉजिटिव) भूमिका है। पाश्चात्य यूरोपीय जनसमाज जब विभिन्न राष्ट्रों में बँट गया, तो वहाँ के विचारकों ने 'राष्ट्र' संज्ञा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्लेषण किया। एकराष्ट्रीयत्व के लिए आधारभूत होने वाली समूह-भावना करोड़ों लोगों के मानस में निर्मित करने के लिए कौन से घटक आवश्यक होते हैं, इसे स्पष्ट करने के प्रयास हुए। इस विषय पर कई ग्रंथ भी लिखे गये। ये यूरोपीय विचारक मानते हैं कि 'एक राजनीतिक शक्ति के नाते राष्ट्रवाद फ्रेंच राज्यक्रांति एवं उसके कारण उत्पन्न हुई परिस्थिति का निष्कर्ष है। 'राष्ट्र को राष्ट्रीयत्व देने वाले घटकों में पाश्चात्य लेखकों ने वंश, भाषा, धर्म, भूमि, परंपरा, समान संकटों व युद्धों, संचार के साधनों, समान राज्यशासन आदि का उल्लेख किया है। उनका निरीक्षण-निष्कर्ष है कि इनमें से एक या अनेक घटकों की प्रधानता से राष्ट्र बनता है व टिका रहता है। विश्व के सभी राष्ट्रों पर लागू होने वाला एक कारणसमुच्चय कोई भी नहीं बता पाया है। वंश, भाषा, धर्म आदि कारण सार्वत्रिक नहीं हैं, यह तो हम देख ही रहे हैं। यूरोप का धर्म एक ही है, फिर भी राष्ट्र अनेक हैं। भारत में भाषाओं की विविधता है, किन्तु राष्ट्र एक ही है। अनेक मानव-जातियों (ethnic groups) के लोग एकत्रित होकर उनका राष्ट्र बनने के उदाहरण भी हैं (उदाहरणार्थ-चेकोस्लोवाकिया)। परन्तु यह सारा अध्ययन मुख्यतः पश्चिम यूरोप के राष्ट्रों तक ही सीमित रहा है। भारत जैसे देश के अनुभव का अध्ययन इन लोगों ने नहीं किया है। फिर एक बात और भी है कि यूरोप के सभी राष्ट्रों का जन्म एक ही समय, एक ही कारण परंपरा के फलस्वरूप नहीं हुआ है। इस प्रक्रिया का प्रारंभ 16वीं सदी में इंग्लैंड में हुआ। बल्गारिया जैसा नया राष्ट्र 1908 में अर्थात् इसी सदी में विश्व के मानचित्र पर उभरा है। यंत्रसंस्कृति, पाशवी सामर्थ्य और संघर्ष से निखरी पाश्चात्य राष्ट्रधारणा तथा हिंदू राष्ट्रधारणा में मूलतः पर्याप्त अंतर है, यह बात ध्यान में लेनी चाहिए। तथापि एकत्व की आंतरिक अनुभूति, इतिहास व परंपरा के समान बंधन, भूमि और समाज का नाता एवं समान आशा-आकाँक्षा जैसे सामान्यतः सर्वमान्य घटकों एवं निष्कर्षों का विचार करने पर भी निष्कर्ष यही निकलता है कि हिंदुस्थान हिंदू समाज का राष्ट्र है। एक भूमि पर रहने वाले किन्तु परस्परविरोधी जीवनपद्धति एवं आशा-आकाँक्षा वाले लोगों की खिचड़ी राष्ट्र संज्ञा के लिए पात्र नहीं होती। यह एक सामान्य सिद्धांत है। कैसे भी विचार करें, हिन्दुस्थान में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदुत्व ही राष्ट्रीयत्व है, इस सिद्धांत में कोई विक्षेप नहीं आता। यूरोपीय राष्ट्रीयत्व की तुलना में अपना राष्ट्रीयत्व हिंदू समाज सिद्ध करे, इसकी कतई कोई आवश्यकता नहीं है। उसका राष्ट्रीयत्व हजारों वर्ष से स्वयंसिद्ध है।

विकृति की घनघोर छाया

अतः भारत का राष्ट्रस्वरूप हिंदू है। यह तत्त्व वस्तुतः सर्वमान्य होना चाहिए किन्तु दुर्भाग्य से हमारे देश की परिस्थिति बिल्कुल ही विपरीत है। यहाँ ऐसे संगठन, संस्था या व्यक्ति पर, जो 'यह हिंदू राष्ट्र है' का शत प्रतिशत सत्य राष्ट्रीय विचार जगाने का काम कर रहा हो, सांप्रदायिकता की मुहर तुरंत लगा दी जाती है। विश्व के अन्य किसी राष्ट्र में ऐसा शायद ही होता होगा। अपने राष्ट्रस्वरूप के बारे में मूलभूत मान्यता वहाँ सबकी होती है। और उसे गृहीत मान कर ही फिर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक विचारभिन्नता को वहाँ स्थान मिलता है। हमारे देश में धूर्त अंग्रेज शासकों ने राष्ट्रस्वरूप के बारे में जो भ्रांत धारणाएँ प्रचलित कर रखी थीं, उनका निराकरण करने का प्रयास सौ-पौन सौ वर्ष से निरंतर चल रहा है। स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने हिंदुस्थान के राष्ट्रीयत्व का स्वरूप सिद्ध करने वाला ग्रंथ 'हिंदुत्व' शीर्षक से लिखा; उसे ही अब साठ वर्ष से अधिक समय बीत गया है। डॉ. हेडगेवार तो सदैव कहा करते थे कि हमारे देश का हिंदूराष्ट्रस्वरूप स्वयंसिद्ध है। इसके लिए बहस में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। हिंदू कौन है, सब जानते हैं; और यह उनका राष्ट्र है, ऐसा कहने के लिए आत्मविस्मृति तथा आत्मविश्वासशून्यता के कारण स्वयं हिंदू समाज ही हिचकिचा रहा है। श्री मा.स. गोलवलकर गुरुजी ने तो यही सत्य जनमानस में अमिट रूप में अंकित करने तथा उनके पीछे सामर्थ्य खड़ा करने के लिए 33 वर्ष तक अधिकारवाणी से अथक प्रयास किया। हिंदू राष्ट्र के सिद्धांत के बारे में उन्होंने कभी कोई समझौता स्वीकार नहीं किया। उन्हें सांप्रदायिक कहा गया, तब भी उन्होंने उसकी कोई परवाह नहीं की। पं. दीनदयाल जी श्री गुरुजी के साथ वैचारिक समरसता - प्राप्त कार्यकर्ता एवं तत्वचिंतक थे। भारतीय जनसंघ का पालन-पोषण एवं विकास करने का दायित्व उन्होंने स्वीकारा तो था, किंतु भारतीयत्व हिन्दुत्व ही है, इस समीकरण को उन्होंने कभी नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

4-3.4
हिंदी पं
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भुलाया। इसीलिए हम पाते हैं कि जनसंघ का तात्त्विक अधिष्ठान स्पष्ट करते समय, या राजनीतिक दल के नाते देश की समस्याओं का विचार करते समय उन्होंने हिंदू जीवनधारा को ही राष्ट्रीय जीवनधारा बताने वाला सिद्धांत-निरूपण करने के कारण उन पर तथा उनके जनसंघ पर भी तथाकथित 'सेक्यूलर' या 'प्रगतिशील' कहलाने वाले दलों ने सांप्रदायिकता की मुहर तत्काल लगा दी! यह प्रवृत्ति आज तक प्रबल है।

○○

पुस्तकालय
155201
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3

सार्वभौम धर्म

हमारे राष्ट्रस्वरूप को असंदिग्धता एवं निर्भयतापूर्वक कहने वालों पर सांप्रदायिक होने का आरोप लगाने वाले दो प्रकार का युक्तिवाद प्रमुखता से प्रस्तुत करते हैं। उनका एक तर्क यह होता है कि हिंदू राष्ट्र का अर्थ हुआ हिंदुओं का सांप्रदायिक राज्य या हिंदू धर्म का पक्षधर राज्य। ऐसी सत्ता के आने के बाद उसके साथ नाना प्रकार का कर्मकांड, जात-पाँत की भावना, ऊँच-नींच की परिकल्पनाएँ, वर्णभेद, यज्ञयाग, छुआछूत, सामाजिक विषमता आदि सारी पुरानी प्रथाओं का पुनरुज्जीवन (रिवाइवलिज़्म) का हौआ खड़ा करते समय ये लोग हिंदुओं की अनेक परंपराओं, प्रथाओं, धारणाओं तथा श्रद्धाकेन्द्रों पर जमकर प्रहार करते हैं। वे फिर यूरोप का वह सारा इतिहास दोहराते हैं कि कैसे वहाँ पोप या चर्च की सार्वभौम सत्ता के निर्माण तथा राजसत्ता को उस सत्ता के अधीन बनाने का प्रयास हुआ और इहवादी शासन की परिकल्पना प्रस्थापित की। अर्थात् इन लोगों को आपत्ति साम्प्रदायिक राज्य (थिओक्रेटिक स्टेट) पर होती है। वे यही प्रचार करते रहते हैं कि हिंदू राष्ट्रवादी यहाँ ऐसे ही राज्य का निर्माण करना चाह रहे हैं।

दूसरा तर्क प्रादेशिक राष्ट्रीयता की अवधारणा पर आधारित होता है। 'इस देश को कैसे हिंदू राष्ट्र कहा जा सकता है जबकि यहाँ हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि विभिन्न सम्प्रदायों के लोग रहते हैं? इसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि हिंदू राष्ट्र कहा जाता है तो उसका अर्थ होगा कि अन्य सम्प्रदायों के लोगों का यहाँ कोई स्थान ही नहीं। उनका यहाँ रहने का अधिकार उनसे छिन जायेगा। ये अन्यधर्मीय लोग कहाँ जायेंगे?' इस प्रकार के नाना प्रश्न ये लोग उपस्थित करते हैं। फिर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि हमारा राष्ट्र 'सेक्युलर' है और किसी भी धर्ममत से उसे कोई लेना-देना नहीं है, सभी धर्मों के लोगों को यहाँ समान प्रतिष्ठा के साथ रहने का अधिकार मिलना चाहिए। इस पर बड़े चाव से विचार प्रस्तुत किये जाते हैं कि धर्म सर्वथा एक व्यक्तिगत विषय है, घर में ही रखने की वस्तु है, उसे शासन या समाज जीवन में हस्तक्षेप करने की स्वछन्दता नहीं देनी चाहिए। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के काल में काँग्रेस, समाजवादी, कम्युनिस्ट आदि सभी दलों ने हिंदुत्ववादियों और हिन्दुस्थान के हिंदू राष्ट्रस्वरूप का आग्रह रखने वालों की इस दोहरे युक्तिवाद के आधार पर 'साम्प्रदायिक' एवं 'प्रतिगामी' कहकर धुनाई की है। राजनीति में धर्म अपनी टाँग न अड़ाये, राज्य तो निधर्मी ही होना चाहिए आदि नारों की इन लोगों ने भरमार कर दी है। किन्तु ऐसे नारे देने वालों के अंतरंग में वास्तव में क्या होता है? 1952 के प्रथम महानिर्वाचन से लेकर अभी हाल ही में सम्पन्न चुनाव तक हम यही पाते हैं कि 'सेक्युलरिज़्म' अथवा हिंदू राष्ट्रविरोधी भूमिका का उपयोग तथाकथित धार्मिक अल्पसंख्यकों के मत थोक में प्राप्त करने के लिए ही बड़ी चालाकी के साथ किया गया है।

लगातार यह भय उत्पन्न किया जा रहा है कि हिंदू राष्ट्रवादी प्रबल हो जाते हैं तो मुसलमानों तथा ईसाइयों का इस देश में सम्मानपूर्वक तथा सुरक्षा से रहना असंभव हो जायेगा, उनका सर्वनाश होगा। एक ओर हिन्दुराष्ट्र-विरोध को धार्मिक अल्पसंख्यकों के असीम तुष्टीकरण का स्वरूप प्राप्त हो गया है और दूसरी ओर राष्ट्रवादी शक्तियों को खोखला बनाते हुए देश को कलहग्रस्त, दुर्बल और निष्प्राण बनाने के लिए निहित स्वार्थी शक्तियाँ भ्रमजाल फैलाने के लिए प्रोत्साहन दे रही हैं। वे देश इन शक्तियों के शिकार हो जाते हैं, जिनमें राष्ट्रभावना क्षीण हो गयी होती है। आज हम देखते हैं कि साम्यवादी, ईसाई और इस्लामी - तीनों प्रभुत्वाकाँक्षी, असहिष्णु एवं सांप्रदायिक शक्तियाँ भारत को ग्रसने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
लिए अधीर हो रही हैं। विगत 60 वर्षों से सांस्कृतिक एकता के आधार पर राष्ट्रभक्ति की भावना को प्रखर बनाने के प्रयास जीवटपूर्वक न हुए होते तो शायद भारत को नोच-नोच कर खाने की इच्छा रखने वालों का काम सरल हो जाता।

धर्म का अभिप्राय 'रिलीजन' नहीं!

राष्ट्रवादी विचार तर्कनिष्ठता से प्रस्तुत करते समय पं. दीनदयाल जी ने विरोधियों के आक्षेपों का भी विचार किया है और उनकी अनैतिहासिकता एवं तर्कदुष्टता स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की है। उदाहरण के लिए, हिंदू राष्ट्र को साम्प्रदायिक राज्य (थिओक्रेटिक स्टेट) बताने की परिकल्पना को अस्वीकार करते हुए उन्होंने धर्म, संप्रदाय, राज्य, राष्ट्र आदि शब्दों के आशय की सप्रमाण व्याख्या की है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में धर्मराज्य का आग्रह रखा है और कहा है कि सम्प्रदायवादी राज्य हिन्दुओं को कभी अभिप्रेत नहीं था। हिंदू शासकों ने हजारों वर्ष इस देश पर शासन किया, जो 'सेक्यूलर' स्वरूप का ही था। सेक्यूलर इस अर्थ में कि किसी एक 'रिलीजन' (सम्प्रदाय) को यहाँ राज्य की ओर से विशेष प्रश्रय नहीं मिला। सत्ता के आधार पर किसी सम्प्रदाय-विशेष का प्रसार शासकों ने नहीं किया। राजा से अपेक्षा केवल राजधर्म के पालन की ही होती थी। इन दिनों जो संभ्रम फैला है, उसका कारण है धर्म और 'रिलीजन' को समानार्थी शब्द मान लिया जाना। पाश्चात्य लोग भारत में आये, और उन्होंने यह 'धर्म' शब्द सुना एवं पढ़ा। उसके लिए समानार्थी शब्द अंग्रेजी भाषा में है नहीं। अतः उनके यहाँ उपासनापंथ का बोध कराने वाला जो 'रिलीजन' शब्द है, उसी को उन्होंने धर्म के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया। विशेष आचार्य, उपदेशग्रंथ, कर्मकाण्ड और ऐसी उपासना-पद्धति वाले लोगों के गुट को संप्रदाय कहा जाता है। इसी नाते इस्लाम एक संप्रदाय, ईसाई एक संप्रदाय है। ईसा मसीह और बाइबल को मानने वाले ईसाई। मुहंमद पैगंबर तथा कुरान को मानने वाले इस्लामी। इसी प्रकार सिख, बौद्ध, वैष्णव, शाक्त आदि सारे सम्प्रदाय ही हैं। हिंदू शब्द का उच्चारण करते ही कोई विशेष साँचाबंद, अनुयायियों का समूह आँखों के आगे नहीं आता। अतः जिस अर्थ में 'रिलीजन' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ में 'हिंदू रिलीजन' नाम की कोई वस्तु अस्तित्व में ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। हिंदू शब्द के अंतर्गत अनेक 'रिलीजन' आ जाते हैं। यही कहना अधिक वास्तविकतापूर्ण होगा। पं. दीनदयाल जी के विचार से तो 'समाज' और 'सोसाइटी' शब्द ही पर्यायवाचक नहीं हैं। उन्होंने कहा है – 'समाज शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? हम जिसे हिंदू समाज कहते हैं, वह कैसे बना? कहाँ से आया? उसके विकास का प्रारंभ कैसे और कब हुआ? इसका किंचित् भी विचार किये बिना हम 'समाज' शब्द का अनुवाद अंग्रेजी के 'सोसाइटी' शब्द के रूप में करते हैं। किंतु 'सोसाइटी' और 'समाज' शब्दों में निहित मूल भावना, उनकी उत्पत्ति एवं विकास में मूलभूत अंतर है, इसका भान हम क्षणभर भी नहीं रखते।'

धर्म, समाज, राष्ट्र एवं राज्य पं. दीनदयाल जी के निरंतर एवं गहरे चिंतन के विषय रहे हैं। वे कहा करते थे कि हिंदू धर्म की प्राचीन काल से मान्यता रही है कि राज्य को तो असांप्रदायिक (सेक्यूलर) ही रहना चाहिए। पोप ने संगठित चर्च खड़ा किया और सारी ईसाई राजसत्ता को उसके अधीन बनाने का प्रयास किया। उसी में से वहाँ संघर्ष उत्पन्न हुआ। भारत में ऐसी बात नहीं हुई। यहाँ के किसी भी आचार्य ने शासन को अपने अधीन करने की चेष्टा नहीं की। आधुनिक 'सेक्युलरवादी' यह स्वयं-स्वीकृत मानकर चलते हैं कि यूरोप की भाँति ही भारत की राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक प्रणालियाँ उत्पन्न हुई होंगी। यूरोप में पुरोहितवाद, सामंतवाद, नृपसत्तावाद, साम्राज्यवाद आदि नाना प्रकार हुए और उनकी प्रतिक्रिया के रूप में इहवाद, लोकतंत्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद, व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद आदि विचारधाराओं का जन्म हुआ। किन्तु क्या भारत में वशिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, वेदव्यास प्रभृति प्राचीन ऋषि-मुनियों ने, अथवा आधुनिक काल के शंकराचार्य से लेकर रामदास स्वामी तक के लोगों ने किसी पुरोहित-तंत्र (पुरोहितशाही) का निर्माण किया?

इन सबकी भूमिका तो मानव के कल्याण की कामना करने वाले निःस्वार्थ, साक्षात्कारी तत्त्वचिंतकों की ही थी। वे तो कल्याणप्रद धर्म क्या है, इसी का निरूपण करते थे। आज की परिभाषा में कहा जाय तो ये लोग जीवन का आधारभूत धर्म (फंडामेण्टल लॉ) क्या है, यही बतलाने का काम करते थे। शासन उस पर आचरण करता था। विधान बनाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
समय आज के शासक दल के नेता जिस प्रकार स्वार्थ पर दृष्टि रखते हैं, वैसी कोई बात तब नहीं थी। धर्म की नियामक सत्ता थी। यह धर्म कर्मकाण्डी नहीं था। मानव-जीवन के लक्ष्य और उस दिशा में प्रगति करने के लिए विभिन्न अवस्थाओं, संबंधों तथा व्यकितगत एवं समाजघटक दोनों दृष्टियों से अपने कर्तव्यों का बोध उससे हुआ करता था। इस धर्म के प्रणेताओं एवं निरूपणकर्ताओं को भी इस बात का बोध सदैव रहता था कि जीवन का लक्ष्य यद्यपि अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत है, फिर भी जीवन का बहिरंग परिवर्तनीय होता है। शासक निरंकुश नहीं होता था। इसका संकेत राजसूय यज्ञ की एक विधि से मिलता है। चक्रवर्ती सम्राट् तीन बार उच्चारण करता है - 'अदंड्योऽस्मि (मैं दण्डित नही हो सकता)।' तब राजपुरोहित अपने धर्मदण्ड से उसकी पीठ पर तीन बार स्पर्श करता हुआ उसे चेतावनी देता : 'राजन! तुम धर्मदण्ड द्वारा दंडित किये जा सकते हो।'

धर्म, जो धारण करे

अतः स्पष्ट है कि राज्य की बाह्य रचना कैसी ही क्यों न हो, शासन-प्रमुख राजा हो या लोकनियुक्त प्रधानमंत्री, राज्य धर्मानुसार चलने वाला ही होना चाहिए, इस हिंदू आदर्श का ही पक्ष पं. दीनदयाल जी ने किया है। इसमें 'रिलीजन' या विशिष्ट उपासना-पद्धति नहीं, धारणात्मक धर्म अभिप्रेत होता है। उपासना की पद्धतियाँ अनेक हों, तब भी धर्म समान होता है। इस धारणात्मक धर्म की अवधारणा को अनेक व्यावहारिक उदाहरण देकर पं. दीनदयाल जी ने स्पष्ट किया है। वे कहते हैं - 'धर्म वही है जो सबके लिए लाभकारी होता है और जो मोक्ष के मार्ग को प्रशस्त करता है। 'धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः', यह हमारे यहाँ धर्म की व्याख्या है। अर्थात् जिन बातों, शक्तियों, भावनाओं, व्यवस्थाओं, तथा नियमों के कारण समाज की धारणा होती है, वही धर्म है। मनुष्य की धारणा जिन बातों से होती है वह मनुष्यधर्म, शरीर की करे वह शरीरधर्म, इसी प्रकार सारी प्रजा की एवं उसके भी परे जाकर समस्त जड़ चेतन संसार की धारणा जिसके कारण होती है उसके भी अपने निश्चित नियम होते हैं। धर्म ही सबकी धारणा करता रहता है। धर्म के बिना कोई बात टिक नहीं सकेगी। प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जायेगी। शरीर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन, बुद्धि तथा आत्मा से युक्त मानव की धारणा जो कर सकेगा, उसे ही धर्म कहा जायेगा। धर्म धारणा के साथ-साथ सामंजस्य स्थापित करने का काम भी करता है। इसीलिए आचरण के नियम बनते हैं। ये नियम देश, काल, स्थिति एवं वस्तु के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कुछ नियम ऐसे होते हैं जो सभी पर लागू किये जा सकते हैं।' राजा, प्रजा, जनता, प्रधानमंत्री या अन्य किसी शासक-अधिनायक में से कोई भी 'सार्वभौम' नहीं होता। जिस जीवनचिंतन पर हिंदूराष्ट्र का भवन हजारों वर्षों से टिका रहा है और जिसे भावी काल में भी बनाये रखने का दायित्व हम लोगों ने स्वीकार किया है, उस जीवन चिंतन में सार्वभौमता धर्म के पास है। यह बात पं. दीनदयाल जी अत्यंत आग्रहपूर्वक प्रस्तुत किया करते थे।

धर्म शब्द का त्रुटिपूर्ण अर्थ लगाने के कारण एक और भ्रांत धारणा प्रसृत हो गयी है। यह भ्रांति अपने आपको 'हिदुत्वनिष्ठ' मानने वाले कुछ विचारकों के लेखों आदि में से भी झाँकती रहती है। वह धारणा यह है कि धर्म को समाज जीवन में प्रधानता प्राप्त हो जाये, अर्थात् उसे ही जीवन का नियामक मान लिया जाये, तो समाज ऐहिक समृद्धि की आकाँक्षा से विमुख हो जायेगा। हिंदू अध्यात्मविचार निवृत्तिपरक है, इसलिए राष्ट्र के घटनाचक्र के प्रति लोग उदासीन हो गये, हरि-हरि का जाप करते बैठ गये, व्यक्तिगत मोक्ष के पीछे ही लग गये और राष्ट्रीय कर्तव्य से च्युत हो गये, ऐसा इन लोगों का आरोप होता है। किन्तु हिंदू मनीषियों ने धारणा करे तो धर्म, यह बताते समय कहा है कि धर्म अभ्युदय एवं निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति कराता है। धर्म ने कभी नहीं कहा कि अभ्युदय नहीं होना चाहिए। उसका आग्रह तो यह है कि कवेल अभ्युदय के ही पीछे पड़ा रहने वाला मानव-जीवन पूर्णत्व को नहीं प्राप्त कर सकता। वैभवशाली समाज जीवन की हिंदू परिकल्पना में जीवन अभ्युदय और निःश्रेयस-दोनों दृष्टियों से विकसित होना चाहिए। इसीलिए धर्म के नियमन को स्वीकारना चाहिए। श्रीमत् आद्य शंकराचार्य बालसंन्यासी थे। मायावाद के पक्षधर के रूप में वे विख्यात हैं। इस मायावाद का भी बहुत विपर्यास हुआ है। किन्तु उन्होंने जीवन में प्रत्यक्ष में जो कार्य किया, वह भारतीय इतिहास में 'शून्यवाद' को हराकर यहाँ पुरुषार्थी स्वर्णयुग का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्माण करने वाला था। उन्होंने धर्म की व्याख्या - 'जगतः स्थितिकारणं साक्षात् प्राणिनामभ्युदयनिः श्रेयसहेतुः स धर्मः', यही की है। धर्म अभ्युदय की ओर से आँखें नहीं फेरता, यह इससे स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य का शरीर होता है और शरीर के आश्रय से आत्मतत्त्व उसमें विराजमान होता है। केवल शरीर के भोगों की ओर ही ध्यान देने वाला और 'आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च' में ही मत्त पड़ा रहने वाला मनुष्य पशु-समान होता है, यह हमारी मान्यता रही है। धर्म जीवन को उन्नत बनाता है। इसका अर्थ यह है कि शरीरसुख से परे शाश्वत आत्मिक सुख की अनुभूति से ही मानव-जीवन सार्थक होता है, इस हिंदू दार्शनिक सिद्धांत का ज्ञान धर्म के कारण प्राप्त होता है। उसकी विस्मृति अर्थात् देहासक्ति सुख-सामंजस्यपूर्ण समाजधारणा के लिए बाधक बन जाती है। यह आत्मिक सुख काल्पनिक नहीं होता। हजारों वर्ष उसको प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले सत्पुरुषों की अखंड मालिका हमारे यहाँ रही है। हिंदू राष्ट्रजीवन एवं जीवनविचार की वह अनुपम विशेषता रही है। हमारी मान्यता यह रही है कि जीवनलक्ष्य से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण मानव-जगत् की संघर्षविहीन धारणा के लिए आवश्यक गुण-समुच्चय एवं आदर्श जन्म लेते हैं शरीर काम करेगा, हृष्ट-पुष्ट होगा, वैभव प्राप्त करेगा, किंतु यह सब करते समय वह आत्मा के अनुकूल भी रहे, यह विवेक जाग्रत रहेगा। महर्षि व्यास ने भी मानव से यही प्रश्न किया था कि - 'धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते'। धर्म के अनुसार अर्थ और काम कहने पर अर्थ और काम की प्राप्ति करने में स्वैराचार एवं अनीति के लिए कोई स्थान नहीं रहता। स्वार्थ, निरंकुश भोगलालसा, स्पर्द्धा, ईर्ष्या एवं संघर्ष के स्थान पर स्नेह, सहिष्णुता, परस्परपूरकता, त्याग, समन्वयशीलता आदि गुणसमुच्चय का संवर्द्धन होता है। प्रसन्नतापूर्वक व्यक्ति और समाज दोनों जीवनलक्ष्य की साधना कर सकते हैं। आत्मिक कल्याण पर मन केंद्रित करने के लिए भौतिक अनुकूलता भी प्राप्त होती है।

राष्ट्र एवं राष्ट्रपुरुष

इससे स्पष्ट है कि धर्म की सार्वभौमिकता जीवन को किसी भी स्तर पर एकांगी नहीं बनाती। सभी अंगों से वह विकसित तथा प्रस्फुटित होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। पं. दीनदयाल जी ने श्रीमत् आद्य शंकराचार्य की एक छोटी सी जीवनी लिखी है। उसकी प्रस्तावना को उनके 'राष्ट्रचिंतन' शीर्षक लेख-संग्रह में 'राष्ट्रीयता का पुण्य प्रवाह' अध्याय-शीर्षक से सम्मिलित किया गया है। उस प्रस्तावना में निहित विचारों में दो बहुत ही मननीय बातें है। पहला विचार यह है कि 'राष्ट्र का जीवन एकाध दिन अथवा दो-चार वर्ष में बनाया-बिगाड़ा नहीं जा सकता और कोई महापुरुष भी राष्ट्रजीवन के संस्कारों से अलिप्त रहकर अपनी मानसिक, आध्यात्मिक अथवा शारीरिक शक्तियों का विकास करता हुआ राष्ट्रजीवन का निर्माण नहीं कर सकता। महापुरुष तो सामाजिक साधना के मूर्त रूप होते हैं, वे तो समाज में बरसों तक चली विचारक्रांति के दृष्ट फल होते हैं। उनकी अलौकिक शक्ति एवं ऐश्वर्य, सर्वस्पर्शी प्रतिभा, अखण्ड कर्ममय जीवन और सर्वव्यापी प्रभाव को देखकर हमारी आँखें इतनी चौंधिया जाती हैं कि उन महापुरुषों को जन्म देने वाली जीवनधारा का स्वरूप भिन्न-भिन्न युगों में विशेष महापुरुषों की साधना एवं सिद्धि के द्वारा कालोचित आधार और बाह्य वेशभूषा लिये प्रकट होता रहता है। इसीलिए किसी भी महापुरुष को समझने के लिए पहले सामाजिक जीवन की इस साधना के स्वरूप का आकलन नितांत आवश्यक होता है। युगपुरुष श्रीमत् शंकराचार्य का महत्त्व भी उस युग की प्रवृत्ति का ज्ञान करा लेने के बाद ही समझ में आ सकेगा।' इस विवेचन का आशय सुस्पष्ट है। राष्ट्रीय दृष्टि से ध्यान में लेने की बात इतनी ही है कि लहर उत्तुंग प्रतीत हो तब भी सागर से भिन्न नहीं होती। सागर है, इसीलिए लहर उठती है और लहर में भी आखिर सागर-जल के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं होता। लहर सागर-शरण ही होती है। क्या सागर को भुलाकर लहर का विचार कभी किया जा सकता है। महापुरुषों का हाल भी ऐसा ही हुआ करता है। महापुरुष तभी निर्मित होते हैं जब विशिष्ट परंपरा से समाज में उन्हें ऊपर उछालने की क्षमता आयी होती है। उस परंपरा का अनुसरण करने वाला तथा उसके प्रति आत्मीयता की भावना रखने वाला समूचा समाज ऐसे महापुरुषों के बारे में आत्मीयता अनुभव करता है। ऐसी आत्मीयता की अनुभूति या उसका अभाव राष्ट्रीयता का निकष होता है। हिंदू धर्मविचार एवं समग्र जीवनचिंतन की युग-प्रवर्तनकारी अभिव्यक्ति शंकराचार्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
जीवनकार्य में हुई। इसीलिए वे हमारे राष्ट्रपुरुष हैं। उनके बारे में हम गर्व अनुभव करते हैं। इस जीवनधारा से कतराने वाले एवं उस पर आघात करने वाले किसी के भी प्रति इस प्रकार गौरव की भावना राष्ट्रमानस में उत्पन्न होना असंभव है। वे लोग पराक्रमी भले ही हों, विचारशील एवं अनेकों गुणों से मंडित भी क्यों न हों, उन्हें भारत के राष्ट्रीय महापुरुषों में स्थान कदापि प्राप्त नहीं होगा। क्या राणा प्रताप और अकबर, दोनों को हम एक साथ अपने राष्ट्रपुरुष मान सकेंगे? हमारे गर्व के पात्र राणा प्रताप ही होंगे! इसके लिए प्रत्येक को चाहिए कि अपनी अंतरात्मा को साक्षी बनाये। वह जो कहे, उसे माने। राष्ट्रचिंतन में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण विचार है।

पं. दीनदयाल जी के लेख में दूसरा ध्यान देने योग्य विचार यह है कि जिस युग में सनातन धर्म की सार्वभौमिकता स्थापित हुई थी, उसी युग में भारत का भौतिक जीवन भी अधिकतम समृद्ध था। इतिहास ने तो उस काल को स्वर्णयुग कहा है। उसी युग में विश्व में हमारा देश स्वर्णभूमि माना गया था। असभ्यता, कंगाली, पराश्रित्त्व या बौनापन उस जीवन में ढूँढे भी नहीं मिलते। महान धर्मोपदेशक, दिग्विजय सम्राट् अक्षर साहित्य का निर्माण करने वाले साहित्यिक, नाट्य, नृत्य, संगीत, चित्र, शिल्प आदि कलाओं में प्रतिभा की अपनी उड़ान से सबको स्तंभित करने वाले महान कलाकार, शास्त्रज्ञ, अन्वेषक, विदेशों में दूर-दूर तक धर्म संदेश पहुँचाने वाले साहसी धर्मोपदेशक, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में सदैव सबसे आगे रहने वाले व्यापारी आदि कर्तव्यशील लोगों की बहार और भरमार उस युग में राष्ट्रजीवन में आ गयी। इसी में से भारत की सांस्कृतिक एकात्मता और मातृभूमि की भक्ति की भावना पुष्ट हो गयी। उसे चिरस्थायी बनाने वाली व्यवस्था यहाँ सुदृढ़ की गयी। समाज-चेतना में इतनी तेजस्विता आ गयी कि विदेशी आक्रमणकारियों तथा परंपरा में टूटना चाहने वाली प्रवृत्तियों को यह समाज जीवन पचा गया। परंपरा की अभिव्यक्ति नव-नवीन रूप में होने लगी। आज शक और हूण कहीं भी शेष नहीं हैं और परंपरा को न मानने वाले बौद्ध-चार्वाक आदि मतप्रवाह भी यहाँ स्वीकारे नहीं गये हैं। वेदांत द्वारा प्रस्तुत जीवनलक्ष्य को आँखों से ओझल किये बिना भौतिक क्षेत्र में हिंदू जीवन में आयी इस विलक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहार को देखकर सारा विश्व आकृष्ट एवं चकित हो गया। यह मनोहारी चित्र रेखांकित करते समय पं. दीनदयाल जी ने इस बात का भी दिग्दर्शन कराया है कि कैसे हिंदू राष्ट्र के भाव विश्व की संरचना हुई और उसके साथ संगति रखकर ही कैसे आज राष्ट्र में कर्मचेतना जाग्रत की जा सकती है। आज कहीं पर जड़वाद की दृष्टि से इतिहास के साथ तुक बिठाने का प्रयास हो रहा है, तो कहीं यूरोप के विकासक्रम को भारत के मत्थे थोपने की दौड़धूप। किंतु इस बात का व्यापक सिंहावलोकन ठीक से नहीं किया जाता कि कैसे हिंदू विचारों एवं क्रांतदर्शी महापुरुषों ने व्यापक धर्म में सबको समाते हुए अपने राष्ट्र को समृद्ध एवं सुखी बनाया। स्वतंत्रता के बाद वैभवशाली राष्ट्र-निर्माण के जितने भी प्रयास हुए, उनमें यह कमी पं. दीनदयाल जी को बहुत ही अखरती थी। राष्ट्र की आत्मा की उपेक्षा कर केवल बाह्य शरीर को ही प्रधानता देने वाले प्रयासों की विफलता अब भली-भाँति सबने अनुभव की है। चारो धाम, बारह ज्योतिर्लिंग, देवी के शक्तिपीठ, देशभर में फैले तीर्थस्थल, नदियों, पर्वतों तथा नगरों को दिया गया प्रातःस्मरणीय पावित्र्य, महान भगवद्भक्तों के बारे में विकसित श्रद्धा और इन सबका राष्ट्रीय एकता की भावना के साथ बुना गया ताना-बाना ध्यान में लिये बिना जो लोग केवल भौतिक आधार पर आह्वान किया करते हैं, उनके उन आह्वानों में लोगों के मानस को स्पर्श करने की शक्ति भला कैसे आ सकती है?

सत्य को दबाने की चेष्टा

ये सब बातें हिंदू जीवनधारा के साथ जुड़ी हुई हैं और धर्म एवं संस्कृति का उद्भव इन्हीं के आधार पर हुआ है। इसी अर्थ में भारत में हिंदू राष्ट्रीयत्व प्राचीनकाल से अक्षुण्ण है। उस जीवनधारा को नकारने से काम नहीं चलेगा। कोई कुछ भी करे, सत्य से छुटकारा नहीं है। सत्य की उपेक्षा करने से हमारा अपना ही अकल्याण होता है। वैसा अकल्याण प्रत्यक्ष में हुआ भी है। अब भी हम सत्य को स्वीकारते नहीं, तो और भी अकल्याण होता रहेगा। 'हिन्दुस्थान पहले कभी एक राष्ट्र था ही नहीं और राष्ट्र के नाते वह सबसे पहले ब्रिटिश शासनकाल में ही खड़ा होने लगा। (ए नेशन इन द मेकिंग)', ऐसा प्रतिपादन करने वाली एक विचारधारा है। इस विचार के मानने वाले बड़े-बड़े लोग ब्रिटिश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन-काल में थे और आज भी हैं। सच कहा जाए तो काँग्रेस द्वारा चलाये गये आंदोलन में राष्ट्रस्वरूप के संबंध में दोहरा विचार करने वाले लोग बड़ी संख्या में थे। इन लोगों की बात कुछ ऐसी थी कि राजनीति की सुविधा के अनुसार ये बोलते कुछ थे और उनकी अंतरात्मा की वाणी कुछ और ही थी। अन्तरात्मा की प्रेरणा न होती तो हजार वर्ष की पराधीनता समाप्त होने की भाषा उत्स्फूर्ति से नेतागण न बोलते; अर्वाचीन और प्राचीन जैसे शाब्दिक विनोद न किये जाते, महमूद गजनवी द्वारा उद्ध्वस्त सोरठी सोमनाथ का जीर्णोद्धार करने की कल्पना सरदार पटेल जैसे नेता के मन में न आती; भारत के पहले राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद इस जीर्णोद्धार समारोह में न जाते और न ही शासन द्वारा अधिकृत ढंग से वह समारोह सम्पन्न किया जाता। भग्न सोमनाथ को राष्ट्र पर हुए आघात का प्रतीक मानना एक अतीव सहज राष्ट्रीय भावना है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद पहली उछाल लेकर वह प्रकट हुई, संपूर्ण राष्ट्र को स्वीकार्य हुई, यह सब सहज स्वाभाविक ही था। योग्य दिशा में उठा वह पग था। राष्ट्रीय अस्मिता की वह सहज अभिव्यक्ति थी। इसी क्रम से हजार वर्ष में हुए विदेशी आक्रमणों के सारे नामोनिशान मिटाना राष्ट्रीय दृष्टि से सुखकारी होता। राष्ट्रविरोधी शक्तियों को उससे उचित चेतावनी मिल जाती। किन्तु राजनीति की सुविधा के लिए इन भावनाओं को वर्जित माना गया और धर्म एवं शासन का विच्छेद करने के नाम पर स्वराज्य में स्वत्वशून्यता बढ़ती गयी। विदेशी सत्ता, विदेशी धर्मप्रचारक और भारत को दुर्बल बनाने के लिए घात लगाकर बैठीं आक्रामक जड़वादी विचारधाराओं ने यहाँ विकृतियों का पोषण किया। सच तो यह है कि भारत की राष्ट्रीयता का आधार शासनसत्ता कभी नहीं थी। यहाँ का राष्ट्रजीवन कुछ ऐसा है कि राजनीति के उतार-चढ़ाव पर उसका टिकना-ढहना निर्भर रहता ही नहीं। सत्ता और राज्य भारत के राष्ट्रजीवन का केन्द्र बिन्दु कभी नहीं रहे। जैसा कि स्वामी विवेकानंद ने कहा है, हिंदू राष्ट्र की प्राण-नाड़ी धर्म है। वर्तमान सदी में महायोगी अरविंद द्वारा प्रस्तुत विचार ही वास्तविक है कि सनातन धर्म एवं हिंदू राष्ट्र एकरूप है।

○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4

अनर्थकारी आत्मविस्मृति

पं. दीनदयाल जी उन राजनीतिक नेताओं के समान नहीं थे जो राजनीति का अभिप्राय सत्तानीति मानने वाले समीकरण की कल्पना कर उसके शिकार हो जाते हैं। इसका कारण यह था कि अदूरदर्शिता से एवं तात्कालिक लाभ का विचार करते हुए किसी काम को करना उनका स्वभाव ही नहीं था। विशुद्ध राष्ट्र-विचार, परंपरागत जीवनलक्ष्य के साथ सुसंगत भावी भारत का चित्र निर्मित करने वाले ध्येयवाद और राष्ट्रजीवन के निर्माण में राजनीति की भूमिका के सुस्पष्ट बोध से उनके कृतित्व को सुनिश्चित दिशा प्राप्त हुई थी। इतिहास के अध्ययन से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि राजसत्ता को राष्ट्रजीवन का केंद्र बिन्दु मानना राष्ट्र की स्थिरता एवं विकास के लिए पोषक नहीं हो सकता। हिंदू राष्ट्रजीवन आँधी-तूफानों का सामना करते हुए भी हजारों वर्ष टिका रहा, इसका एक कारण यही है कि वह प्रकृति से ही सत्ताकेन्द्रित नहीं है। यहाँ कई साम्राज्यों का उदय हुआ और अस्त भी। युद्ध में कभी जीत हुई तो कभी हार। पराधीनता भी हुई और कई विदेशी राजघराने यहाँ सत्ता में आकर चले गये। लगभग एक हजार वर्ष विदेशी दासता में बिताने पड़े। किन्तु हिंदू समाज, हिंदू संस्कृति और हिंदू राष्ट्र को पूर्णतः कोई नष्ट नहीं कर सका। अति प्राचीन परंपरा के साथ अपना नाता बताने और मानने वाला हिंदू समाज आज भी सारी विशेषताओं के साथ यहाँ बहुसंख्या में बना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है। संसार की ओर देखें तो हम पाते हैं कि अनेक राष्ट्र एवं संस्कृतियाँ कुछ अवधि के लिए तो बहुत ऊर्जितावस्था में पनपीं, किन्तु बाद में सदा के लिए समाप्त भी हो गयीं ईरान या प्रशिया को देखिए, या रोमन साम्राज्य-सभ्यता का उदाहरण लीजिए। दोनों राजसत्ता के सहारे ही पनपे थे। जीवन की सभी बातों का नियमन सम्राट् ही करते थे। ऐसा आभास उत्पन्न हुआ था कि ईरान के लोग बहुत सुखी एवं निश्चिन्त हैं। किंतु बलशाली अरबों की टिड्डी-दल ईरान पर छा गया और उनके एक ही आघात से ईरानी राष्ट्र का सारा प्रासाद धराशयी हो गया। रोमन या ग्रीक साम्राज्य भी साधन-संपदा, शासन-व्यवस्था, सेना आदि के होते हुए भी राजसत्ता खोखली होते ही ढह गये। खाल्दिया और बेबिलोनिया की संस्कृतियों की कहानी भी ऐसी ही है। अनेक संस्कृतियाँ और उनसे प्रभावित राष्ट्र फिर से खड़े हो ही नहीं सके। उनकी नीवें ही खोखली एवं कच्ची थीं। वहाँ आज भूमि तो है, लोग भी रहते हैं, किंतु प्राचीन से उनका कोई नाता नहीं रहा है। मिस्र (इजिप्त) में भी यह हुआ है। हिंदू विचारकों ने इस संभावित संकट को पहचाना तथा उससे समाज को उन्होंने बचा लिया। उन्होंने जन-जीवन को राजसत्ता से प्रायः स्वतंत्र एवं आत्मनिर्भर रखा। यही कारण था कि विविध स्तरों पर स्वायत्त समाज जीवन यहाँ बराबर चलता रहा। शासन संस्था का महत्त्व यहाँ सीमित ही माना गया।

हिन्दूराष्ट्र का बलस्थान

आज यह भय है कि स्वतंत्रता के बाद के काल में परायों का अनुकरण करने के चक्कर में अपने समाज-जीवन के इस सातत्य के बलस्थान को कहीं हम गँवा न बैठें। आज चारों ओर का वातावरण ऐसा है कि सत्ता की राजनीति ही जीवन का केन्द्र-बिन्दु बनती जा रही है। लोगों की स्वयंप्रेरणा इसके कारण अवरूद्ध सी हो गयी लगती है। शासकीय हस्तक्षेप का विस्तार असीम बढ़ गया है। हर बात के लिए शासन का मुँह ताकने की आदत पड़ती जा रही है। आजकल तो शासन का कारोबार भी लोककल्याण की अपेक्षा चुनावों में मतों पर दृष्टि रखकर ही होता दिखाई देता है। नाना प्रकार के आंदोलन चलाये जाते हैं। वे सब समाज के किसी न किसी गुट की माँगों के लिए ही होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इकट्ठे मतों के बल पर शासन पर निहित स्वार्थियों द्वारा दबाव डाले जाने के प्रयत्न तो आये दिन होते ही हैं। शासक एवं उनके विरोधी दोनों में सत्तापिपासा बहुधा समान होती है। किन्तु हिन्दू सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की परिकल्पना के साथ राजसत्ता का इतना अधिक महत्त्व सुसंगत नहीं है। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, हमारे यहाँ धर्म की सार्वभौमता से तो राजा भी मुक्त नहीं होता था। आज सामाजिक प्रतिष्ठा, धन, सत्ता, भोग, सब कुछ 'कुर्सी' में केंद्रित हो गया है तथा भौतिकवादी कल्पनाओं के प्रभाव के कारण उनके प्रति आकर्षण अनिवार्य हो गया है। हिन्दू अवधारणा यह है कि राजा को राजधर्म का पालन करना चाहिए। राजधर्म क्या है, यह राजा द्वारा निश्चित नहीं किया जाता था। निःसंग, निःस्वार्थ एवं क्रांतदर्शी ऋषि-मुनियों द्वारा निर्धारित धर्म का पालन राजा को करना होता था। उसकी अपनी सत्ता सर्वकष नहीं होती थी। कुलधर्म, जातिधर्म, श्रेणीधर्म आदि में हस्तक्षेप या विक्षेप करने का उसे कोई अधिकार नहीं होता था। धर्मविरोधी एवं लोकविरोधी कारनामों के लिए राष्ट्र ने वेन राजा को मृत्युदंड दिया था, वह कथा सुप्रसिद्ध है। वेन राजा के पुत्र पृथु को राजा बनाते समय प्रजा द्वारा रखी गयी शर्तें भी यही दर्शाती हैं कि प्रजा सार्वभौम थी और राजा निरंकुश सत्ताधारी नहीं होता था। भरत को भी पहले यह शपथ लेनी पड़ी थी कि 'आप प्रजाजन जो कहेंगे, मैं वही करूँगा, अन्य कुछ भी नहीं करूँगा। ('तदहं वः करिष्यामि नात्र कार्य - विचारणा'), उसके बाद ही उसे राजा बनाया गया। प्रत्यक्ष राज्याभिषेक-समारोह मंत्रविधान भी यही दर्शाता है कि राजा की सत्ता सर्वकष नहीं थी और धर्म का पालन करने का कठोर बंधन उसपर होता था। राज्याभिषेक के समय राजा राजधर्म की जो प्रतिज्ञा लेता था उसका स्वरूप संक्षेप में ऐसा था - 'अपने राष्ट्र को देवता तुल्य मानकर मैं उसकी रक्षा करूँगा। धर्म और नीति के आदेशों पर चलूँगा और न्याय के विरुद्ध जाने वाली कोई बात नहीं करूँगा। मैं अपनी स्वैर इच्छानुसार आचरण कभी नहीं करूँगा।' इस सारी विधि का आशय यही है कि राजा या राज्यसंस्था का भी एक धर्म हुआ करता था, जिसका परिपालन करने को वह बाध्य था।

आज की शासकीय परिभाषा में कहा जा सकता है कि राजा प्रजा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा दिये गये अधिकारों का परिपालन करने वाला मुख्य प्रशासनिक अधिकारी (चीफ एक्ज़िक्यूटिव ऑफिसर) होता था। उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती थी। अतः धर्मराज्य की हिंदू अवधारणा को यूरोपीय या इस्लामी माप से नापना मूलतः ही गलत है। प्रशासनिक अधिकारी अच्छा न हो, शासक स्वधर्मपालन में दक्ष न हो, तो परिस्थिति बिगड़ जाती है और समाज दिशाहीन होकर विघटन की ओर बढ़ने लगता है। इसी अर्थ में हमारे यहाँ कहा गया है – 'राजा कालस्य कारणम्'। उसकी सत्ता सर्वंकष होती है, ऐसा इसका अर्थ कदापि नहीं। हमारे यहाँ राजा को विष्णु का अंश इसीलिए कहा गया है कि प्रजा की धर्मप्रतिपालनपूर्वक धारणा करने का काम लोगों ने उसे सौंपा होता है। विष्णु को संसार की धारणा करने वाली शक्ति माना गया है। राजा उस शक्ति का अंश होता है। उसमें वह दैवी गुण हो तभी उसकी महत्ता है, अन्यथा उसकी अवस्था वही होगी जो प्रजापति और वेन की हुई थी। विदेशी परिकल्पनाओं के साथ भारत जैसे प्राचीन और विकसित देश की व्यवस्थाओं की तुलना करते समय विद्वानों ने विकृत तर्क प्रस्तुत किये और हमें वैचारिक भटकाव में डाल दिया है।

एक विचार यह प्रस्तुत किया जाता है कि संविधान-सभा ने हमारा जो संविधान बनाया है, वही आज के राजकर्ताओं का धर्म क्या है, यह बताने वाली संहिता है। उस संविधान के प्रति एकनिष्ठ रहने की शपथ लेकर ही कोई सत्ता में आ सकता है। अतः राजधर्म के परिपालन का बंधन आज के शासकों पर भी एक प्रकार से आता ही है। हमारा संविधान ही आज की स्मृति है और राजधर्म का नियंत्रक भी। सिद्धांततः इस विचार को स्वीकारने में कोई प्रत्यवाय नहीं है। किन्तु इस प्रसंग में दो तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला प्रश्न यह कि संविधान बनाने वाले लोग कौन थे? ऋषियों की निःस्वार्थता, निरपेक्ष लोककल्याणकारी बुद्धि, धर्मनियमों का गहरा ज्ञान क्या उनमें था? या तात्कालिक परिस्थिति के प्रभाव और दबाव में उन्होंने स्वतंत्र भारत की इस स्मृति की रचना की? दूसरा प्रश्न है कि क्या इन संविधान-निर्माताओं में स्वतंत्र प्रज्ञा थी या अधिकतर परानुकरण की ओर ही उनका रुझान था? तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि संविधान में निष्ठा करने की शपथ लेकर समय-समय पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्तारूढ़ होने वालों ने संविधान के मार्गदर्शक सिद्धांतों का पालन कहाँ तक किया है? सूखे बाल की खाल ये लोग कितनी निकालते रहे और नियम बनाते समय जो भावना तथा प्रेरणा रही उसका समादर इन लोगों ने कितना किया है? इन प्रश्नों के उत्तर उदाहरणों के साथ यहाँ देने की कोई आवश्यकता नहीं है। किसी को भी इनके उत्तर सरलता से मिल जायेंगे। ध्यान में लेने की बात इतनी ही है कि हिन्दुस्थान में राजधर्म का निरूपण करने की परंपरा को हमने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद स्मरण नहीं रखा, न ही जो राजधर्म अब बताया गया है उसका प्रामाणिकता से पालन किया। ऐसा परिपालन करा लेने के लिए आवश्यक जाग्रत लोकशक्ति का आजकल अभाव ही है।

साँचाबद्धता अमान्य

राजधर्म के अनुसार राजा से यह अपेक्षा की जाती थी कि लोककल्याण एवं कर्तव्य के कठोर परिपालन के लिए व्यक्तिगत जीवन में अनासक्त रहे। राजधर्म के परिपालन के लिए श्री राम ने सीता का भी परित्याग कर देने के बारे में कहा - 'मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा'। छत्रपति शिवाजी ने भी घोषित किया था 'यह राज्य धर्म का है, शिव बा का नहीं' अथवा 'हमारा राज्य तो शंकरजी का दिया हुआ है।' भारतीय युद्ध (महाभारत) जैसे बड़े संघर्ष भी धर्म की रक्षा एवं अधर्म के निर्मूलन के लिए ही हुए। धर्म्य संग्राम हमारे यहाँ कर्तव्य का ही एक भाग रहा है। यहाँ ईश्वर भी अवतार लेते हैं, धर्म-प्रस्थापना के लिए! भारतीयों के रक्त में ही यह अवधारणा बहुत गहरी घुली हुई है। इसीलिए अपनी इतिहाससिद्ध प्रकृति का विचार करने पर आज की राजनीति मूल्यविहीन एवं विकृत प्रतीत होती है। गांधी जी के रामराज्य और पं. दीनदयाल जी के धर्माष्ठित राज्य की परिकल्पना में सिद्धांततः कोई अंतर नहीं है। धर्म शाश्वत है मनुष्य को ही अपनी आर्थिक एवं सामाजिक संरचना का मेल उसके साथ बिठाने की आवश्यकता होती है। एक भाषण में श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी ने यह विषय बहुत ही सरलता से स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा है - "उष्णता एवं प्रकाश अग्नि का धर्म है। यह धर्म किसी विधान-सभा या संसद् के बहुमत या अल्पमत पर निर्भर नहीं है। संसद की सार्वभौमता भी अग्नि के इस धर्म को विधान द्वारा बदल नहीं सकती। आप मानें या न मानें, यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म होता ही है। इस धर्म का लाभ हम लेना चाहें, तो उसका ज्ञान हमें प्राप्त करना पड़ेगा एवं उचित कामों के लिए उसका उपयोग कर लेना होगा। अग्नि के धर्म को पहचानकर हमने उसका उपयोग भोजन बनाने के लिए करना सीखा है। यह एक रचनात्मक उपयोग है। किन्तु इसके विपरीत प्रवृत्ति हो तो अपना ही घर जलाकर राख करने के लिए भी उसका उपयोग कैसे किया जाये, इसका चयन अपने हाथ में होता है। हम जब कहते हैं – 'धर्मोरक्षति रक्षितः', तो उसका अर्थ इतना ही होता है कि हम धर्म के अनुसार चलें तो हमारा जीवन सुखी होता है और धर्म को अस्वीकार करके चलें तो हम अपनी ही हानि कर लेते हैं।''

एक बार यह बात ध्यान में आ जाये कि धर्मानुकूल राज्य, समाज-व्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था को सबसे सुख के लिए स्वीकार करना ही हिन्दू राष्ट्र के निर्माण या पुनर्रचना का केंद्रवर्ती सूत्र है, तो हिन्दू राष्ट्रवादियों पर आये दिन किये जाने वाद पुनरुज्जीवनवाद, प्रतिक्रियावाद, अंधश्रद्धा, आधुनिकता से मुख मोड़ने आदि आरोपों की व्यवस्था अपने आप स्पष्ट हो जाती है। इसका कारण यह है कि हमारी राष्ट्रीय प्रकृति को कोई भी साँचे में बंद 'वाद' (ism) भाता नहीं। इस संदर्भ में पं. दीनदयाल जी का चिंतन बहुत ही खुला और तर्कनिष्ठ है। 'वाद' का अर्थ है एक बंद ग्रंथ। किसी 'वाद' (इज्म) को स्वीकारने से विचारों की खिड़िकियाँ बंद हो जाती हैं। काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन की प्रवृत्ति एवं क्षमता समाप्त हो जाती है। दुराग्रह एवं असहिष्णुता उत्पन्न हो जाते हैं। धर्मानुकूल परिवर्तनों के बारे में हिन्दू दार्शनिकों द्वारा दिखायी गयी अनाग्रही प्रवृत्ति एवं जीवन को बाह्य रचना में कालानुरूप परिवर्तन कराने की समाज की अंगभूत क्षमता के कारण ही कालप्रवाह में यह समाज टिका रहा है। हमारे समाज की यह अनन्य विशेषता इतिहास के अध्ययनकर्ताओं ने भी स्वीकार कर ली है। जीवन-विचार एवं विज्ञान के बारे में देश या किसी ग्रंथविशेष अथवा प्रेषित की सीमाओं में ही अटके रहना प्रगति एवं कालोचित परिवर्तन को नकारना है। ऐसा तो है नहीं कि विज्ञान का यूरोप में किया गया आविष्कार या नियम वहाँ लागू होता है और यहाँ पर नहीं होता! समाजविषयक कोई चिंतन विदेश में हुआ हो, तो भारत को भी चाहिए कि उसका ज्ञान कर ले। पहले की अपेक्षा संसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अब छोटा हो गया है। संचार और यातायात के साधन पर्याप्त बढ़ गये हैं। राष्ट्रों में आपसी संपर्क अधिक निकट का हो गया है। प्रचुर ग्रंथों के निर्माण के कारण विचारों का आदान-प्रदान सुलभ है। ऐसी स्थिति में कौन सा देश उल्टे-सीधे प्रवाहों से अलग रह सकता है? कोई एकाकी भी नहीं रह सकता। पं. दीनदयाल जी एवं उनकी विचार-धारा के अनुसार चलने वाले लोग जब परभूतता (परनिर्भरता) की कठोर आलोचना करते हैं तो उनका प्रहार ऐसी बातों का अंधानुकरण करने की प्रवृत्ति पर होता है जो राष्ट्रानुकूल नहीं होतीं और न ही जो मानवता के अंतिम कल्याण के लिए पोषक हैं। उनका आग्रह इस बात के लिए होता है कि हमारे पूर्वजों ने क्या चिंतन किया था, किस प्रकार की संरचनाओं का सुझाव दिया था, उन संरचनाओं के लिए सैद्धांतिक आधार क्या है तथा आधुनिक युग में उनमें से कौन सी बातें और भाग ग्राह्य हैं, इसका भी तुलनात्मक अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए। उस निराधार धारणा का शिकार हमें नहीं बनना चाहिए कि हमारे यहाँ समाजजीवन एवं राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक संरचना के बारे में गहराई के साथ विचार ही नहीं किया गया। हमारे राष्ट्र की इतिहाससिद्ध प्रकृति की राष्ट्र-निर्माण में उपेक्षा नहीं होनी चाहिए और इन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि विचार या व्यवहार की ग्राह्याग्राह्यता के हमारे अपने राष्ट्रीय निकषों को आँखों से कभी ओझल नहीं होने देना चाहिए।

यह भूमिका स्पष्ट हो तो अपने लिए पोषक बात को कहीं से भी ग्रहण करने में कोई प्रत्यवाय (बाधा) नहीं रहता। अपने ही समाज में बदलती स्थिति के अनुसार पुरानी बातों में अग्राह्य हो चुकी बातों को बिना झिझक त्याग देने में कोई रुकावट फिर नहीं आती।

ग्राह्याग्राह्यता के निकष

स्वामी विवेकानंद एक सूत्र बताया करते थे कि "प्राचीन हिन्दुत्व में सुधार केवल हिन्दुत्व के द्वारा ही किया जा सकता है, नयी कोर लगाये सुधार-आंदोलन के द्वारा नहीं।" इसी पद्धति से हिन्दू समाज परिवर्तित समय के साथ तालमेल बिठाता रहा है। हम मनुस्मृति का नाम सुनते हैं। मनुस्मृति पर अनेक लोग बहुत रुष्ट भी हैं। किन्तु हम ध्यान में नहीं लेते कि मनु द्वारा कुछ आचार धर्म बताये जाने के बाद उनमें समय-समय पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक परिवर्तन होते गये और मनु के बाद अनेक स्मृतिकार एवं धर्मशास्त्रकार हुए जिनकी संख्या लगभग 57 है। उनके द्वारा लिखित धर्मशास्त्रीय ग्रंथों की संख्या तो लगभग 6000 है। धर्मशास्त्रों के अध्ययनकर्ताओं द्वारा दी गयी इस जानकारी से स्पष्ट है कि हमारे देश में सुधारों की रीति ही ऐसी रही है कि विद्वज्जन विचार-मंथन कर नये आधार धर्म को मान्यता दें ताकि समाज की अवस्था तड़ाग में जमा हुए पानी की भाँति न हो पाये। इस प्रणाली में स्वामी विवेकानंद के अनुसार हिन्दुओं द्वारा हिन्दुओं में सुधार होते रहते हैं। इसमें परनिर्भरता, हीनभावना या विध्वंस को कोई अवकाश नहीं मिलता।

नृशंस विदेशियों के आक्रमणों के हजार-बारह सौ वर्ष के कालखंड में यह प्रक्रिया खंडित हो जाने के कारण ही अनेक विकृतियों ने हमें ग्रस लिया। शाश्वत धर्म को बिना कोई बाधा पहुँचाये, बदलते समय के साथ नित्यनूतन 'स्मृति' अर्थात् आचारों की रचना करने, नयी बातों को मान्यता देने एवं प्रतिष्ठा दिलाने की पद्धति अवरुद्ध सी हो गयी। फलतः समाज की गतिशीलता मंद पड़कर यथास्थितिशीलता (स्टेटस क्वो) उसमें आ गयी। अस्तित्व के भीषण संघर्ष में संस्कृति और समाज की प्रवाहशीलता रुक सी गयी। रुका हुआ पानी दूषित हो जाता है, कुछ ऐसा ही समाज के साथ हुआ। राष्ट्र का वैचारिक नेतृत्व करने वालों को राष्ट्रजीवन में निरंतरता और परिवर्तन - दोनों बातों की ओर एक साथ ध्यान देना पड़ता है। समाज की पहचान तथा विशेषताओं को बनाये रखते हुए परिवर्तनशील युग के साथ तालमेल बिठाना पड़ता है। मानव शरीर का उदाहरण देकर पं दीनदयाल जी ने नये विचारों को स्वीकार करने के निकष बहुत अच्छी प्रकार बताये हैं। उन्होंने कहा है - "विश्व-व्यवहार में विभिन्न राष्ट्र एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। उनमें विचार-प्रणाली का आदान-प्रदान भी होता है। विश्व-व्यवहार में आपस में ऐसा आदान-प्रदान होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। भिन्न परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार यह आदान-प्रदान न केवल आवश्यक अपितु अधिक बल देने वाला भी हो सकता है। किन्तु कुछ गहराई में जाकर विचार करने पर दिखाई देता है कि जो राष्ट्र स्वस्थ एवं स्वाभिमान-संपन्न होते हैं वे किसी भी बात को ऐसे ढंग से स्वीकार किया करते हैं कि वह नयी बात उनकी राष्ट्रीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
आकाँक्षा एवं आदर्श के लिए पूरक सिद्ध हो। इस प्रक्रिया को भली-भाँति समझने के लिए हम मानव-शरीर का उदाहरण लें। प्रकृति का यह नियम सबको ज्ञात है कि विजातीय द्रव्य के शरीर में प्रवेश करते ही रोग एवं उपद्रव प्रारंभ हो जाते हैं। इसीलिए स्वस्थ शरीर की पहचान यही मानी जाती है कि वह विजातीय द्रव्यों को आत्मसात् कर सकने की सीमा तक ही ग्रहण करता है। यही क्यों, मनुष्य गेहूँ, चावल आदि अनाजों को भी ज्यों का त्यों मुँह में नहीं ठूँस लेता। भोजन के हर पदार्थ को रक्त-वृद्धि के लिए सहायक बनने वाले रूप में ही वह ग्रहण करता है। यही बात विभिन्न परिवारों के व्यवहार में भी हम देखते हैं। हर परिवार का दूसरे परिवार के साथ लेन-देन का कुछ न कुछ व्यवहार चलता ही रहता है। उसके बिना किसी का काम नहीं चलता। विवाह-संबंध तो भिन्न परिवारों में ही किये जाते हैं। किन्तु अन्य परिवार की कन्या को अपने परिवार में ग्रहण करते समय उसे सब प्रकार से अपना बनाना पड़ता है। राष्ट्रों के बीच होने वाले व्यवहार में भी यही दक्षता बरतनी पड़ती है। राष्ट्र के जीवन-मूल्य, जीवन-पद्धति, आदर्शों एवं जीवनधारा के अनुरूप जो भी स्वीकार किया जाता है, एकरसता के लिए पोषक एवं राष्ट्र को बलिष्ठ बनाने वाला होता है। प्रत्युत् इन बातों के साथ बेमेल एवं विरोधी बातों को स्वीकार करने से अशांति, उपद्रव और रोगग्रस्तता के लिए निमित्त बन जाता है। उससे राष्ट्र का विनाश भी संभव होता है।''

परानुकरण का प्रभाव

वास्तव में शिकायत तो यही है कि हमारे धुरंधर नेताओं ने यह विवेक नहीं दिखाया। स्वत्व एवं स्वाभिमान का मेरुदण्ड सीधा तना न हो तो विश्व में भौतिक दृष्टि से बलशाली, प्रभावशाली, विजयशाली एवं वैभवशाली माने जाने वाले राष्ट्रों का अनुसरण करने की प्रवृत्ति बल पकड़ती है। अपने पिछड़े एवं दरिद्र समाज की लज्जा आने लगती है। यह अनुसरण बड़ी बातों से लेकर छोटी-छोटी दैनिक बातों तक छनता चला आता है। फिर तो खाना-पीना, वेशभूषा, घरेलू रहन-सहन का ढंग, भाषा, सुधार एवं पिछड़ेपन की परिकल्नाएँ, सामाजिक समारोह, विवाह-सम्बन्ध या संस्कारों की पद्धति आदि कितनी ही बातें विदेशी ढंग से होने लगती हैं। वही अच्छा प्रतीत होने लगता है। किसी ने स्वदेशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
आन-बान जतायी तो उसे गँवार बता दिया जाता है। हम ब्रिटिशों से हार गये और चालाक विदेशी मिशनरियों तथा शासकों ने मैकाले-शिक्षा-प्रणाली के माध्यम से हमारे मन में अनेक प्रकार से भ्रम बो दिये। तबसे हमारे शिक्षितों में और उनकी देखा-देखी समाज के अन्य लोगों में भी पाश्चात्यों के अनुसरण की प्रवृत्ति निरंतर बढ़ती ही गयी है। स्वतंत्रता के बाद तो वह निरंकुश हो गयी है। पराधीनता के काल में स्वदेश की भावना जगाने का प्रयास हुआ, किन्तु आज वह न केवल थम गया है अपितु 'इम्पोर्ट' का आकर्षण एक पागलपन की भाँति सिर चढ़ता जा रहा है। पं. दीनदयाल जी कहा करते थे कि पहले हमारे आदर्श, संस्कृति, भाषा, देश में बनी वस्तुएँ और उन सबका जन्म जिस मिट्टी में हुआ उस अपने देश की माटी आदि के बारे में अभिमान, गर्व एवं आस्था पायी जाती थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इन बातों की प्रेरकता लुप्त हो गयी और हिंदू जीवन-प्रणाली से दूर जाने की प्रवृत्ति को शक्ति मिली। देश की हजारों ईसाई शिक्षा-संस्थाओं में इस प्रवृत्ति को जानबूझकर खाद-पानी दिया गया। हमारे संविधान में अनुस्यूत राष्ट्रभाषा विषयक मार्गदर्शक सूत्र पर स्वराज्य के 36 वर्ष (अब 67 वर्ष) बाद भी आचरण नहीं हो सकता। संपर्क-भाषा के रूप में अंग्रेजी की ठकुराई बनी हुई है और लगातार दूनी गति से बढ़ती जा रही है। गौवध समाप्त करने के लिए यहाँ की सरकार अभी भी तैयार नहीं है। दूसरों से क्या लिया जाये, किस प्रकार लिया जाये, और अपने राष्ट्र के लिए अनुकूल रूप देकर उसे राष्ट्र के लिए पोषक कैसे बनाया जाय, इसका विवेक क्या हम रख पाये हैं? प्रत्यक्षतः हमारे संविधान में भी अपने राष्ट्र के स्वत्व को हमने कहाँ प्रतिबिंबित किया है? बिल्कुल संविधान बनाने के समय से ही आत्मविस्मृति एवं परानुकरण की प्रवृत्ति का सुस्पष्ट प्रभाव हमें दिखाई देता है। जीवन के स्वत्व का और अपने राष्ट्र में जो 'हम' हैं उसका आविष्कार जहाँ नहीं होता, वह जीवन म्लान हो जाता है और सभी क्षेत्रों में स्वार्थ एवं भोगलालसा का नंगा नाच प्रारंभ हो जाता है। राष्ट्रमानस में अपनी पहचान के बारे में ही संभ्रम फैला हो तो यही होगा। वस्तुतः ऐसा संभ्रम उत्पन्न होने का कोई समुचित कारण नहीं था। हमारी परंपरा ऐसी रही है कि राष्ट्रीय मूल्यों का ध्यान रख कर चाहे जिस नयी बात को उचित रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
में स्वीकार करने का यहाँ कभी कोई निषेध नहीं होता। परंपरा से चली आयी जो बातें निरुपयोगी हो गयी हों, वे यदि छूट जाती हैं या उनमें कुछ छँटनी करनी पड़ती है तो वैसा करने का यहाँ किसी को कोई खेद नहीं होता। अपेक्षा बस इतनी ही होती है कि जो भी करना हो, धर्म को सार्वभौम मानकर तथा उसके विपरीत न जाकर करो। हमारा धर्म तो भौतिक एवं अभौतिक, जड़ और चेतन, दोनों में संतुलन रखने वाला है। मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए ही हमें उसकी प्रतिष्ठा को बनाये रखना है।

'समाजवाद' की छीछालेदर

इस परिप्रेक्ष्य में पं. दीनदयाल जी ने एक मुखर उदाहरण दिया है। उसका हमें सावधानी के साथ विचार करना चाहिए। अंग्रेजों के चले जाने के बाद स्वतंत्र भारत के अभ्युदय, दरिद्रता के नाश एवं सर्वांगीण सुधार अथवा ज्ञान-विज्ञान का विचार प्रारंभ से ही किस प्रकार किया गया? वह निश्चय ही हिंदू समाज एवं राष्ट्र की अभिन्नता के आधार पर नहीं किया गया। यहाँ के समाजजीवन की निरंतरता का मर्म विचारपूर्वक खोजकर उसके आधार पर यह विचार नहीं किया गया। धर्मप्रवण समाज और अर्थ-काम की ओर ही सारा ध्यान देने वाले शासनावलंबी समाज में जो मूलभूत अंतर होता है उसे ध्यान में लेकर यह विचार नहीं किया गया। संक्षेप में, 'स्वदेशी' चिंतन के आधार पर संरचना करने से राष्ट्र धर्मप्रवण होगा और विचित्र-विचित्र समस्याओं के उपद्रव से उसे बचाया जा सकेगा, यह विचार यहाँ नहीं किया गया। तो फिर क्या और कैसा विचार किया गया? विदेशों की कुछ विचार-धाराएँ स्वाधीनता से पहले ही हमारे देश में प्रस्तुत हो चुकी थीं। हम एक प्रकार से उनके व्यामोह में फँस गये थे। साम्यवादी और समाजवादी प्रभाव स्वतंत्रता-आन्दोलन के अनेक काँग्रेस-नेताओं पर था। स्वयं पं. जवाहरलाल नेहरू के मन पर भी इन विचारों की परिभाषा की गहरी छाप थी। उतनी ही मात्रा में हिंदू जीवन-विचार और जीवन-पद्धति के प्रति मानसिक दूरी से वे ग्रस्त थे। आज समाजवादी या साम्यवादी दलों में पाये जाने वाले अनेक लोग उस समय काँग्रेस में ही काम कर रहे थे। अमरीका एवं यूरोप में प्रचलित लोकतंत्र एवं व्यक्तिस्वतंत्रतावाद, भौतिक प्रगति और भोगप्रवण जीवनदृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की परिकल्पनाओं, प्रभाव तो था ही। इन विभिन्न विचारों की खींचतान में भारत की विकास-योजनाओं की रचना की गयी। काँग्रेस ने पहले समाजवादी समाज-रचना और बाद में समाजवाद का लक्ष्य स्वीकार किया। अपने आपको 'वामपंथी' कहलाने का फैशन चल पड़ा। समाजवाद शब्द बिना उसका निश्चित आशय समझे, बहुत ही लचरता से सस्ती लोकप्रियता पाने के लिए प्रयुक्त होने लगा। उसके साथ ही आर्थिक क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण का भाव तेजी में आ गया। राष्ट्रीयकरण का अर्थ मात्र समीकरण - व्यवसाय का ब्यूरोक्रेटाइजेशन - किया जाने लगा। समाजवाद, साम्यवाद, जड़वाद आदि विचार अंततोगत्वा मानव और राष्ट्रीय समाज के जीवन को सुखी, सौमनस्यपूर्ण और विकसित कर भी पायेंगे या नहीं, इसका भारतीय जीवन-चिंतन की तुलना में ठीक से विचार ही नहीं किया गया। पं. दीनदयाल जी ने अपने 'राष्ट्र जीवन की दिशा' नामक लेखसंग्रह में सम्मिलित 'दोउन राह न पायी' लेख में समाजवाद और लोकतंत्र दोनों पद्धतियों एवं उनके कारण भारत में उत्पन्न हुई प्रगतिविरोधी स्थिति की मार्मिक समीक्षा की है। समाज में आर्थिक विषमता की प्रचण्ड खाई न हो, किसी का शोषण न हो, मुट्ठीभर अति धनाढ्यों की निहित स्वार्थी, नीतियों का प्रभाव शासक वर्ग पर न रहे, इस स्थूल अर्थ में सामान्य दरिद्र जनसमाज को समाजवाद शब्द की ओर आकर्षित करने का प्रयास विगत पचास वर्षों से हमारे देश में होता रहा है। 'साम्यवादी स्वर्ग' की मोहिनी लोगों पर डालने के लिए कम्युनिस्ट दल ने यहाँ के स्वाभाविक जीवन-दर्शन पर कठोर प्रहार किये हैं, रूस के अनुकरण का पक्ष लिया है। किन्तु ये सारे आह्वान जनमानस को छू नहीं पाये हैं। किसी ने भी राष्ट्रीय पुनर्रचना के क्षेत्र में तर्कसंगत ढंग से ऐसा कुछ भी नहीं कहा है जो जनमानस को स्पर्श करे और उसको भा जाये। परन्तु अपने आपको ही सच्चा समाजवादी बताने की होड़ लग गयी। हिंदू महासभा ने हिंदू समाजवाद का आविष्कार किया तो अन्य किसी ने वैदिक समाजवाद, सन्तों का समाजवाद आदि परिभाषा भी प्रयुक्त करने का प्रयास कभी-कभार किया। अभी कुछ ही दिनों की तो बात है जब गांधीवादी समाजवाद (गांधियन सोशलिज्म) की घोषणा की गयी। परन्तु इस भाषा का भी जनमानस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तात्पर्य यह कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
समाजवाद शब्दप्रयोग बहुत ही लचर और खोखला रहा और परिणामतः समाज को दिशाविहीन अवस्था प्राप्त होने लगी। देश में दांभिकता और पाखंड बढ़ता गया। वस्तुतः समाजवाद के मार्ग से सुखी, स्वस्थ और विकसित समाज जीवन का सपना लोगों के सम्मुख रखते समय कार्ल मार्क्स प्रणीत 'वैज्ञानिक समाजवाद' (साइंटिफिक सोशलिज्म) का वस्तुपरक विश्लेषण किया जाना चाहिए था।

कम्युनिस्ट क्रांति का यशापयश

हिंदू राष्ट्रविचार को अक्षुण्ण रखने और इस विषय में संभ्रम को टालने के लिए पं. दीनदयाल जी ने वैचारिक तथा प्रत्यक्ष में संगठन के अग्रिम क्षेत्र में बहुमूल्य कार्य किया है। इस संदर्भ में रूस तथा उसके प्रभाव में आये देशों में जो प्रयोग चल रहा है या चीन में कम्युनिस्ट क्रांति के बाद जो किया जाता रहा है उसका मूल्यमापन करने का उनके द्वारा किया गया प्रयास उद्‌बोधक है। हिंदू जीवनप्रणाली और जीवनदर्शन के सारग्राही अधिष्ठान से किये जाने के कारण यह प्रयास विशेष महत्त्व का है। वैसे साम्यवाद की आलोचना अमरीका, यूरोप तथा भारत में पर्याप्त हुई है। स्वयं रूस में भी अनेक विचारकों ने मोहभंग होने के बाद साम्यवादी प्रणाली की कठोर आलोचना की है। किन्तु स्वस्थ समाजधारणा विषयक हिंदू चिंतन का ठोस आधार लेकर विचारों को दिशा देने वाला जैसा मंथन पं. दीनदयाल जी ने किया वह अनुपम है। उस पर उनकी स्वदेशी प्रज्ञा की स्पष्ट छाप अंकित है।

कम्यूनिस्ट क्रांति के बाद कार्ल मार्क्स के सपनों को साकार करने के लिए रूस में जो प्रयोग किया गया, उसके बारे में पं. दीनदयाल जी ने लिखा है - 'बोल्शेविक क्रांति से लेकर आज तक रूस का इतिहास अनेक असफलताओं का ही इतिहास सिद्ध हुआ है। वह इस विचार-प्रणाली की न केवल अपूर्णता का द्योतक है, अपितु भयानक परिणामों को जन्म देने वाला भी। समाजवाद ने पहला आघात लोकतंत्र पर किया और समाजवाद में आस्था रखने वाले रूस के बाहर के लोगों को उसने भयभीत कर दिया।' दीनदयाल जी ने यद्यपि कम्युनिस्टों की विफलताओं की सूची नहीं दी, कोई भी अध्ययनकर्ता उसे सरलता से बना सकता है। विश्व का एक भी देश कम्युनिज़्म के मार्गदर्शक सिद्धांतों के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाजजीवन का निर्माण नहीं कर पाया है। कम्युनिस्ट देशों ने भी मूल कम्युनिस्ट विचारों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता छोड़ दी है। जहाँ जैसी स्थिति हो,वैसा परिवर्तन वे करते जा रहे हैं। चीन द्वारा खायी गयी कलाबाजी सारे विश्व के कुतूहल का विषय बनी है। भारत में तो स्पष्ट दिखाई देता है कि कम्युनिस्ट प्रवक्ता पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी देशों आदि की कठोर आलोचना तो करते हैं, किन्तु कम्युनिज़्म के मार्गदर्शक तत्त्वों और उनकी प्रकट विफलता के बारे में चुप्पी साध जाते है। वास्तविकता यह है कि उन्होंने 'कम्युनिस्ट' का केवल 'लेबिल' रखा है। उस लेबिल के पीछे जो कुछ होता है उसमें न तो कम्युनिज्म का कोई रंग होता है न रूप। विवाह संस्था को समाप्त करना, निजी सम्पदा नष्ट करना, ईश्वर की उपासना को जनजीवन से देशनिकाला देना आदि कितने ही नारे कम्युनिस्टों ने दिये थे। 'दुनिया के मजदूरों, एक होओ' तो उनके घोषणापत्र का मुख्य आह्वान होता था। वर्गकलह, जड़वाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास का भौतिक अन्वयार्थ आदि कई सिद्धांत कम्युनिस्टों ने रखे, किन्तु क्या इनमें से एक भी व्यवहार में आया अथवा विश्व के गले उतारा जा सका है? रूस में (खेती के सामूहिक स्वामित्व की भाँति) कम्युनिस्ट-प्रयोगों का विरोध करने वाले लाखों लोगों का रक्त बहाया गया। श्रमिकों की तानाशाही एक अस्थायी संक्रमणावस्था न रहकर असहिष्णु दलीय तानाशाही ही लोगों पर स्थायी रूप में सवार हो गयी दिखाई देती है। 'राजसत्ता का लोप' कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। उस दिशा में विगत 65-70 वर्षों में एक भी पग आगे बढ़ा नहीं है। कम्युनिस्ट नारों की कसौटी पर ही कम्युनिस्ट प्रयोगों को परखा जाये तो उनका अपयश उजागर हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक बात और है कम्युनिस्ट अपने आपको यद्यपि मार्क्सवादी कहते हैं, उसके मूल सिद्धांत से वे एक-एक पग लगातार पीछे ही हटते जा रहे हैं।

आज तो स्थिति यह है कि उन्होंने जिन बातों को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की थी, उन्हीं को मान्यता देने के लिए वे विवश होते जा रहे हैं। 'रिलीजन' को नष्ट करने चले रूस के संशोधित संविधान में उपासना की स्वतंत्रता को नागरिकों के मूलभूत अधिकार के रूप में मान्यता दी गयी है! कम्यूनिस्ट क्रांति ने समाज के पुराने वर्ग भले ही क्यों न समाप्त किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हों, शासक और शासित के नाम से दो नये वर्ग वहाँ उत्पन्न हो गये हैं। आज रूस आर्थिक विषमता, भ्रष्टाचार, आदि एक भी तथाकथित पूँजीवादी बुराई से मुक्त नहीं है। मार्क्स की यह घोषणा भी कि जहाँ औद्योगिक श्रमिकों की अधिकता है वहाँ कम्युनिस्ट क्रांति का झंडा पहले फहरेगा, झूठी सिद्ध हुई और कृषिप्रधान रूस में पहली सफल कम्युनिस्ट क्रांति हुई है। उद्योगप्रधान देशों में समृद्धि है और ब्रिटेन-अमरीका प्रभृति राष्ट्रों में कम्युनिस्टों को प्रचार-प्रसार की स्वतंत्रता होकर भी वहाँ कम्युनिस्टों का प्रभाव कतई निर्मित नहीं हो पाया है। 'दुनिया के मजदूरों' के एक होने की बात तो दूर दूसरे विश्वयुद्ध में वे अपने-अपने देश की ओर से युद्ध में उतरे। राष्ट्रवाद को मात देने वाला अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक-एकतावाद स्थापित करने में कम्युनिस्ट प्रणाली असफल रही है। भारत में निर्धन और दरिद्र स्थिति में जी रहे लोगों की भरमार है। जिनके पास कुछ नहीं है, ऐसे लोगों की यहाँ बहुत बड़ी संख्या है। फिर भी ऐसा कतई नहीं कहा जा सकता कि यहाँ कम्युनिस्टों ने भारी घुसपैठ की है या देश साम्यवादी क्रांति के पथ पर चल पड़ा है। साम्यवादी या समाजवादी अपनी असहिष्णु प्रवृत्ति के अनुसार भिन्न मतावलंबियों को बस चुनी हुई विशिष्ट गालियाँ भर देते रहते हैं। सारे संसार ने यह भी देख लिया है कि जहाँ भी साम्यवाद आता है, सबसे पहले लोकतंत्र बलि चढ़ जाता है। मनुष्य मनुष्य नहीं रहता, वह निर्घृण शासनयंत्र का एक नितांत विवश दास बन जाता है। लोकतंत्र और मार्क्सप्रणीत समाजवाद का एक ही म्यान में रहना सर्वथा असंभव है।

पाश्चात्यों की अवस्था

पाश्चात्य लोकतंत्र का स्वरूप भी मानव-कल्याण के लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाया है। मनुष्य वहाँ भी सुखी नहीं है। भोग के सारे साधन उपलब्ध होने तथा रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठ जाने के उपरांत भी वह भयग्रस्त है, अशांत है और सार्थक जीवन से वंचित ही है। समृद्धि में से भी कितनी ही नित्य नयी समस्याएँ प्रतिदिन उसके सामने मुँह बाए खड़ी हो रही हैं। मनुष्य को 'आर्थिक प्राणी' के स्वरूप में प्रस्तुत करने वाला या भोगसाधनों की विपुलता में ही सुख देखने वाला जो-जो विचार होगा वह अंत में मनुष्य को कण्ठा में ही डालेगा और उसके सामने कभी हल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न होने वाली समस्याएँ खड़ी होती ही जायेंगी।

अपने चिंतन का निष्कर्ष बताते हुए पं. दीनदयाल जी कहते हैं - 'समाजवाद और लोकतंत्र दोनों ने मानव के भौतिक स्वप्न और उसकी आवश्यकताओं पर ही सारा ध्यान केंद्रित किया। आधुनिक विज्ञान एवं यांत्रिक प्रगति में दोनों की ही आत्यंतिक आस्था है। दोनों आजकल के नित्य नये आविष्कारों के शिकार हो गये हैं। परिणाम यह हुआ कि उत्पादन के साधनों का स्वरूप मानव-कल्याण एवं उसकी आवश्यकताओं के अनुसार नहीं, बल्कि यंत्रों के स्वरूप के अनुसार निश्चित किया जा रहा है। उत्पादन का नियंतत्रण व्यक्ति करता हो या शासन, उत्पादन की केंद्रित व्यवस्था में मानव के स्वतंत्र व्यक्तित्व का लोप हो जाता है। वह भी यंत्र का मात्र एक पुर्जा बनकर रह जाता है। इससे अधिक महत्त्व उसका नहीं रह जाता। यदि हम चाहते हैं कि मनुष्य में मनुष्यत्व की रक्षा की जाये, तो उसे यंत्र की दासता से मुक्त करना होगा। आज मनुष्य यंत्रों का स्वामी नहीं, बल्कि यंत्र ही मनुष्य पर हावी हो गये हैं। इस यंत्र प्रेम के मूल में मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति करने की भावना ही होती है। किन्तु मात्र भौतिक समृद्धि प्राप्त करने से मनुष्य सुखी नहीं हो सकता, इस बात को हमें भुलाना नहीं चाहिए। भौतिक साधनों से समृद्ध बने देशों के सामने क्या-क्या समस्याएँ खड़ी हैं, हम देख ही रहे हैं। हमें तो समूचे मानव-जीवन का विचार करते हुए उत्पादन, वितरण तथा उपभोग - तीनों को एक ही प्रक्रिया के परस्पर संबद्ध अंग मानना पड़ेगा। हमें यहाँ एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसमें मनुष्य उत्पादन करते समय तथा भोग भोगते हुए एक सार्थक जीवन व्यतीत करने की ओर भी ध्यान देगा। मनुष्य मात्र भौतिक आवश्यकताओं की गठरी तो होता नहीं। उसकी कुछ आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी होती हैं। मनुष्य की इन आध्यात्मिक आवश्यकताओं की उपेक्षा करने वाली व्यवस्था कदापि परिपूर्ण नहीं हो सकती। समाजवादी और लोकतंत्र - दोनों प्रणालियों ने एकांगी मार्गों का अवलंबन किया है। दोनों मार्गों में सामंजस्य स्थापित करते हुए मनुष्य का विकास करने के स्थान पर इन दोनों व्यवस्थाओं ने विचित्र संभ्रम की अवस्था उत्पन्न की और विभिन्न शक्तियों में संघर्ष का अखाड़ा यहाँ बना दिया है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रभावना की प्रभुता

अपने राष्ट्र का विचार करते समय आधुनिक मानी जाने वाली विदेशी विचारधाराओं का बोध रखना पड़ता है, उनके गुणदोषों को समझ लेना पड़ता है। राष्ट्रीय स्थिति के परिप्रेक्ष्य में उनका विचार करना होता है। कारण, राष्ट्र की सीमाओं को मिटाकर श्रमिकों का अधिराज्य निर्मित करने की बात कहने वाले मार्क्सवाद के लिए मनुष्य के स्वाभाविक राष्ट्रप्रेम को मिटा देना संभव नहीं हो पाया है। साम्यवादी जगत् में भी रूस, चीन, यूगोस्लाविया, पोलैण्ड, हंगरी, वियतनाम आदि देशों ने अपनी पृथक् राष्ट्रीय पहचान, अपनी परंपरा, अपने ऐतिहासिक राष्ट्रपुरुषों, अपनी जय-पराजय की स्मृतियों आदि को तिलांजलि नहीं दी है। कोई भी राष्ट्र अपने इतिहास को भुला नहीं सकता, क्योंकि इतिहास और उससे बनने वाली अस्मिता पर पर्दा डाल दिया तो संकटों से जूझने की प्रेरणा देने वाली शक्ति ही लुप्त हो जाती है। हिटलर के आक्रमण का सामना करने तथा जीवन-मरण का संघर्ष करने की नौबत आते ही स्टालिन ने अंततः राष्ट्रवाद और परंपरा का ही सहारा लिया। कम्युनिज़्म को बचाने के लिए शत्रु का डटकर सामना करो, ऐसे आह्वान का रूस की प्रतिकार-शक्ति, समर्पण की भावना और विजय की आकाँक्षा को उद्दीप्त करने के लिए स्टालिन ने 'फादरलैण्ड (पितृभूमि) के नाम पर ही अंतिम आह्वान किया और राष्ट्र को उसके पूर्व-पराक्रमों का स्मरण दिलाया। यह आह्वान रूसी जनता के मन-मस्तिष्क को छू गया।

रूस की महान परंपरा का बखान करते समय उन्हीं लोगों के नामों, चित्रों एवं पराक्रमों की गाथाओं को उछाला गया, जिन्हें क्रांतिकारियों ने पहले श्रमिकों के शत्रु कहकर लाख-लाख गालियाँ दी थीं। राजा-महाराजाओं, सामंतों एवं सरदारों का भी 'कामरेड' स्टालिन ने गौरवपूर्ण उल्लेख किया। 7 नवम्बर, 1941 के अपने भाषण में स्टालिन ने कहा - 'अपने महान् पूर्वजों की देदीप्यमान स्मृति इस युद्ध में आपको प्रेरणा देने वाली हो!' इन पूर्वजों में उसने जिनके नामों का उल्लेख किया उसमें अधिकांश लोग राजपरिवारों के थे। किसान या मजदूर तो उनमें से एक भी नहीं था। किंतु इन सबमें एक समान गुण था कि विदेशी आक्रमण के समय उन्होंने रूसी सेना का नेतृत्व कर रूस के लिए महान विजय प्राप्त की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। 1802 में रूस ने नेपोलियन को परास्त किया था। उस विजय के निर्माताओं को तो कम्युनिस्ट रूस ने 'हीरो' (नायक) बनाकर छोड़ा। सेना को उत्साह एवं प्रेरणा दिलाने के लिए उन दिनों किस प्रकार का लेखन किया गया था, इसका एक उदाहरण देखने योग्य है। रूसी लेखक इर्लीमा इरेन्बर्ग द्वारा हिटलर की सेनाओं से लड़ने वाले रूसी सैनिकों के नाम लिखा गया एक पत्र प्रख्यात हो गया है। इस पत्र में इर्लीमा ने लिखा है – 'सुकोमल तान्या और सेवास्तोपल के प्रसिद्ध नाविक तुम्हारे साथ-साथ संचलन में सम्मिलित हैं। तुम्हारे पूर्वजों ने रूसी भूमि को देवत्व प्रदान किया है। उनमें प्रिंस इगोर के सरदार तथा डिमित्री की सेना है। वे लोग आपके साथ कदम से कदम मिलाकर चल रहे हैं। बुन्देजी के सैनिक तथा नंगे पाँव, भूख-प्यासे रहकर भी विश्वविजय करने वाले होमायेव के स्वयंवसेवक भी तुम्हारे साथ हैं। तुम्हारी माताएँ, पत्नियाँ तथा बच्चे भी तुम्हारे साथ चल रहे हैं। वे तुम्हें आशीर्वाद दे रहे हैं। तुम्हारी माता के लिए शांतिपूर्ण उत्तरायु का निर्माण करने का अहोभाग्य तुम्हें मिलने जा रहा है। तुम्हारी पत्नी के साथ तुम्हारा पुनर्मिलन होगा और तुम उसे यह सुख देने वाले हो तथा अपने बच्चों पर आनंद की वर्षा करने वाले हो। सैनिको, तुम्हारे संग-संग रूस चल रहा है, समझ लो कि वह तुम्हारे बिल्कुल समीप है। उसके पदचाप को सुनो। लड़ाई के घमासान में भी वह पदचाप तुम्हें सुख-उल्लास से भर देगी। तुम्हारे मन में कहीं चंचलता आ जाये, तो वह तुम्हें धैर्य देगी और अंत में तुम विजयी होकर लौटोगे तो उससे गले मिलने का सौभाग्य तुम्हें प्राप्त होगा।'

नियति का संकेत

सोवियत रूस के इस भावभीने राष्ट्रवादी प्रवाह का उल्लेख यहाँ जानबूझकर कुछ विस्तार से किया है, क्योंकि भारत में हिंदू राष्ट्र एवं हिंदू परंपरा शब्दों का उच्चारण करते ही कम्युनिस्ट मंच और समाचारपत्रों द्वारा अतिरेकी राष्ट्रवादी, वर्गीय हितों के समर्थक, मध्ययुगीन, रूढ़िवादी, संकीर्ण, सांप्रदायिक, आदि चुनी हुई गालियों की बौछार हुआ करती है। हिंदू राष्ट्रविचार के पीछे सारे समाज को संगठित रूप में खड़ा करने के प्रयास में जुटे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे सांस्कृतिक संगठन पर सबसे अधिक द्वेषपूर्ण एवं विषबुझे आघात किसी ने किये हैं तो वे मार्क्सवादियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने ही! उसमें सत्यासत्य का कोई विधिनिषेध उन्होंने कभी नहीं रखा। भारत में हिन्दू समाज अपने राष्ट्रस्वरूप का बोध जगाकर खड़ा हो गया तो यहाँ जन्मजन्मांतर में भी कम्युनिस्ट सत्ता आने की कोई संभावना नहीं रहेगी, क्योंकि जीवन रचना के हिंदू आदर्श केवल आर्थिक नहीं हैं, भौतिक भी नहीं हैं। रूस में हुए अनुभवों ने ही यह सिद्ध कर दिया है कि साम्यवाद की आर्थिक एवं भौतिक परिभाषा और भौतिक प्रेरणाओं से इतिहास की व्याख्या करने (मैटीरियल इंटरप्रिटेशन ऑफ हिस्ट्री) का प्रयास निरर्थक है। स्पष्ट है कि विद्वेष, वर्गसंघर्ष और मनुष्य के अत्यंत अधूरे आकलन पर आधारित मार्क्सवादी विचार हिंदू राष्ट्र के समग्र जीवनदर्शन के सामने हतप्रभ हो जाता है। सरसंघचालक श्री गुरुजी तो प्रखर शब्दों में कहा करते थे कि शायद नियति का संकेत ही यह है कि जड़वादी, ईश्वर विरोधी अथवा अन्य मतों के प्रति चरम असहिष्णु जितनी भी आक्रामक शक्तियाँ संसार में हैं, उनकी कब्रें हिंदुस्थान में ही खोदी जायेंगी।

इस्लाम की लहर को किसी ने रोका है तो भारत ने ही। ईसाइयों ने एड़ी-चोटी का पसीना एक किया, किन्तु भारत को ईसाई बनाने में सफलता उनके हाथ न लगी। दीर्घ काल तक निरंकुश राजसत्ता हाथ में होने के उपरांत भी बिखरे एवं दुबले हिंदू समाज का इस्लामीकरण या ईसाईकरण वे नहीं कर पाये। हिंदू समाज एकात्म होकर खड़ा जा जाये, तो इन संप्रदायों को भी आत्मसात् कर लेना भारत के लिए कतई कठिन नहीं होगा। भारत जिस प्रकार इस्लामी या ईसाई नहीं बन सका, उसी प्रकार वह कम्युनिस्ट भी नहीं बनेगा। कम्युनिस्टों ने तो इसकी आशा लगभग छोड़ ही दी है। फिर भी अभी उन्होंने पूरी हार नहीं मानी है। फिलहाल वे अपनी व्यूहरचना तथा रणनीति में परिवर्तन करके देखना चाह रहे हैं। इसीलिए हिंदू कहते ही सूचित होने वाले उन्नत एवं चेतनामय विचारों की ओर लोगों का ध्यान ही न जाये और हिन्दुओं में स्वत्वबोध जाग्रत न हो पाये, ऐसा उनका प्रचार होने लगा है। पं. दीनदयाल जी जैसे विचारक विश्व के नवीन अर्थचिंतन एवं समाज की व्यवस्थाओं में नये प्रयोगों के प्रति अस्पृश्यता की भावना नहीं रखते। उनको भी यह स्वीकार होता है कि आर्थिक एवं सामाजिक विषमता तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी भी स्वरूप के शोषण को समाज-जीवन में कोई प्रश्रय न मिले। किन्तु उनका साधार आग्रह यह रहता है कि केवल डंडे के बल पर, शासन के हाथों में उत्पादन के सभी साधनों को केंद्रित कर, व्यक्ति की स्वतंत्रता छीनकर तथा मानव-जीवन के आध्यात्मिक पहलू को अस्वीकार कर यह नहीं किया जा सकता। सुखी मानव-समाज के निर्माण के लिए राष्ट्रीयत्व की भावना मारक नहीं उपकारक है और मानव के विकासक्रम में हिंदू विचारक इससे भी आगे के गंतव्य तक पहुँचे हैं, यही श्रद्धा, अध्ययन के पश्चात् उनके मन में दृढ़ हो गयी होती है। राष्ट्र केवल भूमि नहीं या केवल देशवासी मनुष्य समूह भी नहीं, अपितु राष्ट्र को अस्मिता एवं विशिष्ट पृथक् पहचान देने वाली एक महत्त्वपूर्ण घटक होती है संस्कृति। इस सिद्धांत को स्वीकारने के बाद हिंदू संस्कृति के विचार के बिना हिंदुस्थान का विचार किया ही नहीं जा सकता।

श्री दत्तोपंत ठेंगडी ने, जो पं. दीनदयाल जी की विचारधारा के साथ एकरूप एवं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्कारों की पृष्ठभूमि लिये हुए एक तत्त्ववेत्ता हैं, साम्यवादी और हिंदू चिंतनों का तुलनात्मक मूल्यांकन करते हुए एक उद्बोधक सत्य सामने रखा है। साम्यवादी चिंतन कहता है कि बाह्य परिस्थिति के कारण मनुष्य बनता है। विशेषतः उत्पादन के साधनों का परिणाम उसके जीवन पर होता रहता है। अभिप्रायः यह कि मानव के अंतःकरण की चेतना, इच्छा-आकाँक्षा, उस पर होने वाले संस्कार आदि अभौतिक बातें गौण हैं। सारी संरचना जड़ पर आधारित होती है। मन की रचना भी बाह्य स्थिति के प्रभाव से ही अपने आप हुआ करती है। समाजवाद एवं अन्य पाश्चात्य सभी सामाजिक-आर्थिक विचारों में इसी बात को मूलभूत और ग्राह्य माना गया है। उन्होंने मानव के मन को और उस पर संस्कार करते रहने की आवश्यकता को महत्त्व नहीं दिया है। उनका मानना है कि विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक स्थिति का निर्माण करने के बाद मन तदनुसार अपने आप तैयार हो जायेगा। हमारे यहाँ ऐसा विचार और यह मीमांसा अस्वीकार की गयी है। बाह्य स्थिति का महत्त्व हमें अमान्य नहीं है, किन्तु जीवन केवल उसी के कारण बनता है, यह अमान्य है। हमारी राष्ट्रीय संस्कृति संस्कारों पर श्रद्धा रखती है। हमारा दृढ़ विश्वास रहा है कि ऐसे सुसंस्कारित मन बाह्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। उनके यहाँ क्रांति तथा शासन द्वारा लाये गये आर्थिक या सामाजिक परिवर्तनों के माध्यम से बाह्य रचना बदलने पर इसलिए बल दिया गया है कि उनकी धारणा के अनुसार मानव-मन का नियंत्रण परिस्थिति ही किया करती है। हमने संस्कारित मानव-मन को निर्णायक घटक माना है। हमारा कहना है कि मनुष्य भला न हो, सुसंस्कारित न हो, तो अच्छी-अच्छी रचनाएँ भी असफल हो जाती है। इसीलिए हमारे यहाँ बाल्यावस्था से ही बच्चों पर अच्छे संस्कार डालने का आग्रह रहता है। व्यक्ति और समाज में अवयव और अवयवी का नाता होता है, इस बात की पक्की गाँठ बाँधकर समष्टि में अपनी भूमिका को एकात्मता की भावना से निभाने वाले लोगों के बिना कोई भी व्यवस्था स्थिर एवं हितकारी नहीं होती।

श्रमिकों का अधिनायकवाद और शासनसत्ता का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व - यही है समाजवादी रचना। मार्क्स ने कल्पना की थी कि शोषण की संभावना समाप्त हो जाने के बाद इस व्यवस्था का लोप होकर अराज्य अवस्था (विदरिंग अवे ऑफ स्टेट) की ओर जाया जा सकता है। किन्तु इसका कोई उत्तर उसने नहीं दिया कि उस अवस्था में मनुष्य-मनुष्य में संबंध किस आधार पर बने रहेंगे। मार्क्स प्रणीत अराज्य या शासनसत्ताविहीन राज्य समाजवादी व्यवस्था से निष्पन्न या स्थिर होने की कोई संभावना दिखाई नहीं देती, क्योंकि मूलतः मार्क्सवाद ही प्रतिक्रियात्मक है। उन्नत आध्यात्मिक विचार का अंग वह नहीं है। वहाँ इस बात की कोई गारंटी कैसे मिल सकती है कि राज्यशासन में तो मनुष्य मनुष्य का शोषण नहीं करेगा? तानाशाही राज्यशासन आज रूस में है, किंतु वहाँ न तो शोषण समाप्त हो पाया है न संघर्ष ही। समानता का एक कृत्रिम आभास वहाँ दिखाई देता है। जिनके हाथों में सत्ता होती है उनके प्रतिस्पर्द्धी उत्पन्न होते हैं और प्रतिस्पर्द्धियों का सफाया करने का प्रयास हर संभव उपाय से किया जाता है। वहाँ यह भी अनुभव किया जा रहा है कि ऐसे उद्योगों में, जिनका सरकारीकरण किया जा चुका है, श्रमिकों को उत्पादन बढ़ाने की पर्याप्त प्रेरणा नहीं होती (लैक ऑफ इन्सेण्टिव) मन की विशालता एवं विकास के संस्कार वहाँ हो ही नहीं सकते। मनुष्य के भीतर छिपा पशु वहाँ किसी भी क्षण जाग सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
स्थिति तो ऐसी भयानक और विषम होती जा रही है कि एक ओर तो तानाशाही अपनी पकड़ को सुदृढ़ बनाने के चक्कर में है, और दूसरी ओर लोग व्यक्तिस्वातंत्र्य के भूखे हैं। ऐसी स्थिति में वर्गविहीन एवं राज्यविहीन अवस्था का कभी उदय होगा, यह आशा भी कैसे की जा सकती है? कम्युनिज़्म के बारे में मोहभंग हुए एक विचारक श्री सोल्जेनित्सिन ने एक भेंटवार्ता में कहा है कि रूस में तो कम्युनिस्ट पार्टी हिंसा और रक्तपात के बिना एक दिन भी नहीं चल सकती। अर्थपरायणता और तानाशाही की अस्थायी अवस्था से समाज को उस पार ले जाने की क्षमता मार्क्सवाद में आ ही नहीं पायी है। मूलतः मार्क्स को अभिप्रेत तो वही था। इसका कारण यह है कि मार्क्स के विचारों की प्राथमिक प्रेरणा आर्थिक या जड़वादी नहीं, नैतिक प्रतीत होती है। 'प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार' वाले सूत्र में आर्थिकता से परे की नैतिक भूमिका है। शोषणमुक्ति और औद्योगिक क्रांति से पश्चिम में निर्मित हुई श्रमपूजक प्रवृत्ति का मार्क्स ने विरोध ही किया। मार्क्स की सच्ची विफलता तो यह है कि समाज-जीवन की धारणा करने वाले धर्म का सही आकलन उसे हो नहीं पाया। गीता में निरूपित कर्मयोग वास्तव में मार्क्स के विचारों को समाता हुआ, मनुष्य को प्रगति की बहुत ऊपर की सीढ़ी पर ले जाने वाला है। हमारे भारतीय जीवनमूल्यों का आशय सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ठीक से स्पष्ट करने का प्रयास अवश्य होना चाहिए। ऐसा करने पर ही कम्युनिज़्म की विचारधारा की भारतीय जीवन-प्रणाली के साथ सटीक तुलना की जा सकेगी और वैचारिक क्षेत्र में कोई हीनता का भाव भारतीय मानस में नहीं रहेगा। कम्युनिज़्म का दर्शन ज्ञान की विस्तृत बनती कक्षाओं, आज तक मिली विफलताओं एवं हिंदू विचार के आधुनिक विश्व में बढ़ते अध्ययन के कारण अपने आप समाप्त हो जायेगा।

हिंदू विचारकों ने भी अराज्य की अवधारणा को प्रस्तुत किया है। संभवतः वह यहाँ कभी रही भी होगी :

न राज्यं न च राजाऽसीत्, न दंड्यो न च दांडिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

ऐसा वर्णन ऋषियों ने किया है। इसमें यही अवधारणा व्यक्त की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
गयी है कि तब सारी प्रजा धर्म जानने वाली, तदनुसार आचरण करने वाली रही होगी। लोग धर्म के आधार पर आपस में स्नेह एवं सहयोग से रहते होंगे, न तो काई शासक होगा, न कोई शासित, और ऐसी अवस्था में प्रजा सुखपूर्वक रहती होगी। प्रसिद्ध वचन-'धर्मो रक्षति रक्षितः' में भी यही अवधारणा अन्तर्भूत है। मानना होगा कि यही हिंदू जीवन-दर्शन है। इसी जीवन-दर्शन ने मानव-संबंधों में एक ही ईश्वरीय चेतना को आधार माना है। हजारों वर्षों से यह संस्कार सत्तानिरपेक्षता से यहाँ होता रहा है। संकट के समय इसी धर्म का भारतवर्ष ने आधार लिया है। विजयकाल में भी इसी के आधार पर मानव-स्नेह को पुष्ट किया है। विगत हजार-बारह सौ वर्ष में पराजय और पतन के काल में भी इसी संस्कारप्रणाली से परिस्थिति पर विजय प्राप्त करने वाले महापुरुष समय-समय पर हुए हैं। उन्होंने लोगों को या तो धर्म क्या है, यह बताया, अथवा स्वधर्म एवं स्वराज्य की रक्षा का असिधारा-व्रत लेकर हिंदू जीवनधारा को यहाँ बनाये रखा है और उसके सातत्य को नष्ट होने से बचाया है।

क्रांतियों की निष्पत्ति

हमारी राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्र के नाते हमारे अस्तित्व का यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है। इन राष्ट्रीय महापुरुषों की परंपरा के प्रति श्रद्धा न रखने वाले तथा मास्को, पेकिंग, अरब या अन्य किसी विदेश में अपने श्रद्धास्थान देखने वाले के लिए यहाँ के राष्ट्रजीवन के साथ समरस होना कैसे संभव हो सकता है? यह तो जीवन-दर्शन, जीवन-लक्ष्य और जीवन-प्रणाली का मूलभूत अंतरंग है। हिंदुस्थान को पुष्ट, समर्थ एवं समृद्ध होना हो, तो हजारों वर्षों के इतिहास और संस्कारों से बनी इस राष्ट्र की प्रकृति तथा आज भी बुद्धिवाद एवं अनुभव की कसौटियों पर खरे उतरे सिद्धांतों के आधार पर ही मार्गक्रमण करना पड़ेगा। इसके लिए हिंदू समाज के कालजयी अस्तित्व के रहस्य को ठीक से समझ लेना होगा और तदनुसार राष्ट्र की नयी-पुरानी रचनाओं का विचार करना होगा। बाह्य रचना को धींगामुश्ती से बदल देने मात्र से लोग सुखी हो जायेंगे, अन्याय और विषमता का निर्मूलन हो जायेगा तथा शोषण भी समाप्त हो जायेगा, ऐसा भड़कीला प्रचार किसी न किसी 'वाद' में जकड़े लोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया करते हैं। देश में नित्य नये विधानों की टकसाल अखण्ड गति से काम कर रही है। समाजवाद के नाम पर अनेक व्यवसायों का सरकारीकरण किया गया है। शिक्षण का भी अधिकांश में सरकारीकरण किया गया है। भूमि की स्वामित्व - प्रणाली में 'क्रांतिकारी' परिवर्तन करने के ढुलमुल प्रयत्न चल रहे हैं। किन्तु इन सारे प्रयासों एवं प्रयोगों में समग्र हिंदू जीवनदृष्टि एवं संस्कार - योजना कहीं ढूंढने से भी नहीं मिलती, यद्यपि सभी आधुनिक राष्ट्रों, उनके द्वारा किये गये विभिन्न प्रयोगों एवं उनकी निष्पत्तियों का अनुभव अध्ययन के लिए हमारे सामने खुला पड़ा है। अकस्मात् ही नयी व्यवस्था की घोषणा करने को ही क्रांति मानकर जो आकस्मिक परिवर्तन किया जाता है, उससे एक भी समस्या का समाधान नहीं हुआ है। प्रत्युत् मानव-कल्याण की परिपक्व एवं सन्तुलित प्रेरणाओं के अभाव में उससे नयी समस्याएँ अवश्य उत्पन्न हुई है।

फ्रेंच राज्यक्रांति हुई, कम्युनिस्ट क्रांति अनेक देशों में हो गयी, यूरोप में औद्योगिक क्रांति हुई, आज विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी (टेक्नालॉजी) के क्षेत्रों में चल रही दौड़ भी क्रांतिकारी ही है, किन्तु मानवजीवन के जड़वादी एवं देहसुखवादी विचारों पर ही क्रांतिजन्य प्रणालियों की रचना की गयी और वह विचार ही अपने में अपर्याप्त या धर्मविसंगत होने के कारण सच्चे अर्थ में मनुष्य के सुखशांतिपूर्ण अस्तित्व की शाश्वतता कहीं पर भी प्रकट नहीं हो पायी, प्रत्युत् मनुष्य आज अधिक भयभीत सा लग रहा है। पर्यावरण दूषित होने का भय, परमाणु-अस्त्रों के भंडारों का भय, आक्रमण का भय, किसी के निर्धन और किसी के धनाढ्य होने के कारण लूटमार का भय, आर्थिक स्पर्द्धा का भय, परिवार-प्रणाली टूटने का भय, व्यक्ति की स्वतंत्रता खो जाने का भय, चारों ओर मानव के लिए भय ही भय छा गये हैं। भयभीतता के भी ये कितने सारे प्रकार हो गये हैं! कोई भी शासनसत्ता इन भयों को दूर नहीं कर सकती। मानव-मानव के आपसी संबंधों में 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भावना भर नहीं सकती, क्योंकि विशिष्ट जीवनदृष्टि रखते हुए किये जाने वाले संस्कारों से ही मनुष्य-मनुष्य के बीच आपसी संबंधों का बोध जगाया जा सकता है, तदनुसार अनुभव करने की क्षमता उसके अंदर निर्मित की जा सकती है। हिंदुस्थान में ऐसे संस्कार करने की व्यवस्था इन दिनों कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
बिखर सी गयी हो तो उसे ठीक किया जा सकता है, किन्तु विदेशी विचारधाराओं का अंधानुकरण करते हुए राज्य एवं भौतिक उपलब्धियों को ही सभी व्यवहारों का केन्द्र बनाने से तो समाज का सारा जीवन-रस ही सूख जायेगा। इस आपत्ति से बचकर ही हमें क्या छोड़ देना, क्या ग्रहण करना, इसका विचार करना पड़ेगा। समर्थ एवं सुसंगठित मनुष्य ही किसी भी योजना या व्यवस्था की सफलता का आधार है, तो हमें चाहिए कि इस आधार को कभी ढहने न दें।

○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5

राज्य का तात्पर्य राष्ट्र नहीं

पं. दीनदयाल जी के विचार से एक और प्रश्न खड़ा होता है जिसे हमें ठीक से समझ लेना चाहिए, क्योंकि उसके बारे में भी पर्याप्त वैचारिक संभ्रम पाया जाता है। प्रश्न यह है कि आज 'राष्ट्र' और 'राज्य' (नेशन तथा स्टेट) दोनों शब्दों को लगभग समानार्थी की भाँति प्रयुक्त किया जाता है, तो क्या वास्तव में ये दोनों संज्ञाएँ एक ही वस्तु की परिचायक हैं? पं. दीनदयाल जी ने असंदिग्ध शब्दों में कहा है कि राष्ट्र और राज्य दो भिन्न तत्त्व हैं। उन्होंने राष्ट्र और राज्य के आपसी संबंधों पर भी प्रकाश डाला है और बताया है कि वे कैसे होने चाहिए। वैसे राष्ट्र और राज्य की परिकल्पनाओं के अन्तर को समझना कोई कठिन बात नहीं है। हमारे देश के इतिहास से पता चलता है कि विभिन्न कालों में यहाँ न्यूनाधिक संख्या में अनेक राज्य थे, किन्तु विभिन्न राज्यों के अस्तित्त्व के कारण भारत के राष्ट्रस्वरूप को कोई बाधा नहीं पहुँची। दक्षिण, उत्तर, पूर्व, पश्चिम के विभिन्न राजघराने और उनके छोटे-बड़े स्वायत्त राज्य भले ही यहाँ रहे हों,

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संततिः॥

यह राष्ट्रकल्पना स्पष्ट थी। मातृभूमि और उस भूमि पर रहने वाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
एक संस्कृतिधारा में पला पुत्ररूप समाज। यह है हमारा राष्ट्र। रामायण, महाभारत आदि महान् राष्ट्रीय ग्रंथ, सबकी श्रद्धा के केंद्र बने। तीर्थक्षेत्र, नदी, पर्वत, देवी-देवता, ऋषि-मुनि, संत-सत्पुरुष आदि के साथ हमारा राष्ट्र एकात्मता की भावना से अनेक राज्यों के समवाय में खड़ा था। आगे चलकर विदेशियों की सत्ता यहाँ आयी अर्थात् राज्य विदेशियों का हो गया, किन्तु राष्ट्र जीवमान था। जीवन की रचना ही कुछ ऐसी बनायी गयी थी कि सदैव संपूर्ण भारतवर्ष का स्मरण हो। स्नान करते समय-'गंगे च यमूने चैव, गोदावरि, सरस्वती। नर्मदे, सिंधु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।' यह श्लोक सहज ही में कहा जाता था। राज्यभिन्नता के कारण इसमें कोई अंतर कभी नहीं आता। यह बात इतनी सुस्पष्ट होने के उपरांत राष्ट्र और राज्य की परिकल्पनाओं के बारे में संभ्रम क्यों होना चाहिए? इसका एक कारण शायद यह है कि अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं, सम्मेलनों, विवादों वार्तालापों आदि में प्रतिनिधित्व राज्य (स्टेट) का होता है। संयुक्त राष्ट्र संघ नामक संस्था से सभी परिचित हैं। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद निर्मित इस संस्था में प्रतिनिधित्व किसे दिया जाता है, राष्ट्र को या राज्य को? उत्तर है, राज्य को। किन्तु उसका नाम है राष्ट्रसंघ। किसी प्रदेश को राजनीतिक स्वतंत्रता मिलते ही उसे इस संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता मिलने का मार्ग खुल जाता है। किन्तु प्रतिनिधित्व मिलता है उस देश के शासन को। राष्ट्रीयता के आधार पर प्रतिनिधित्व का चयन नहीं होता, न ही वह राष्ट्रीयता पर निर्भर होता है। राष्ट्रकुल को देखें अथवा निर्गुट राष्ट्र सम्मेलन को लें, एक-एक सरकार को ही वहाँ इकाई माना जाता है। यही कारण है कि 'नेशन' तथा 'स्टेट' की परिकल्पनाएँ समव्याप्त होने का आभास निर्मित हुआ है। राष्ट्रकुल सम्मेलन में भारत, पाकिस्तान, बर्मा और श्रीलंका आदि सबको अलग-अलग राष्ट्र माना जाता है। अर्थात् राज्यों और राष्ट्रों की सीमाएँ एक ही होती हैं। प्रत्येक राज्य 'नेशन स्टेट' होता है। ऐसा अन्तरराष्ट्रीय व्यवहार की सुविधा के लिए माना जाता है। किन्तु राष्ट्र की अवधारणा का वास्तविक आशय ध्यान में लेने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक शासन एक ही समय राष्ट्र और राज्य दोनों होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अनेक राष्ट्रों का विभाजन हुआ। एक जर्मनी दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
जर्मनी में बँट गया। कोरिया का उत्तर और दक्षिण कोरिया के रूप में विभाजन हो गया। वियतनाम का भी विभाजन हो गया। भारत 1947 में दो राज्यों में बँट गया। उसके बाद 1971 में एक तीसरा राज्य भी हो गया। क्या ऐसे प्रत्येक राज्य को स्वतंत्र राष्ट्र माना जाये? शास्त्रीय दृष्टि से तो यह बात उचित नहीं प्रतीत होती।

राष्ट्र की जीवमानता

इसका कारण यह है कि राज्य का स्वरूप जिस प्रकार अस्थिर होता है, राष्ट्र का स्वरूप कभी वैसा अस्थिर नहीं हुआ करता। आज हम देखते हैं कि राज्यों की सीमाएँ बदली जा सकती हैं, राज्यकर्ता भी बदल जाते हैं। जहाँ एक राज्य के दो राज्य बनाये जा सकते हैं, वहाँ दो राज्यों को मिलाकर एक राज्य भी बन सकता है। आज उत्तर और दक्षिण वियतनाम के दो स्वतंत्र राज्य रहे ही कहाँ हैं? क्या हम उस संदर्भ में कह सकते हैं कि वहाँ दो राष्ट्रों को मिलाकर एक राष्ट्र बन गया? ऐसा कहना तो हास्यास्पद होगा। चीन ने तिब्बत पर अधिकार कर लिया है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि तिब्बत चीनी राष्ट्र का अंग बन गया। भारत में अग्रेजों का राज्य डेढ़ सौ वर्ष रहा, किन्तु यह राष्ट्र हिंदू ही था। राष्ट्र एक स्थायी अवधारणा है। विशिष्ट स्वभाव वाले लोकसमूह को प्रदीर्घ ऐतिहासिक प्रक्रिया से विशिष्ट भूप्रदेश पर राष्ट्रत्व प्राप्त होता है। राष्ट्र एक जीवमान वस्तु (living organism) है, तो राज्य सुविधा के लिए निर्मित एक व्यवस्था (मशीनरी)। जैसे शरीर होता है। और उस पर वस्त्र - परिधान किया जाता है, तो शरीर के लिए वस्त्र होता है या वस्त्र के लिए शरीर? हम देखते है कि शरीर का आकार, उसका डीलडौल, वर्ग, जलवायु, ऋतु और शरीर से अपेक्षित कार्य के स्वरूप के अनुसार हम वस्त्र-परिधान करते हैं। बचपन के वस्त्र बड़े होने पर काम नहीं आते। शीतकाल के लिए बने वस्त्रों को गरमी के दिनों में कोई उपयोग नहीं होता। राज्य और राष्ट्र के संबंध भी कुछ ऐसे ही होते हैं। शरीर पर कोई वस्त्र न हो, तब भी शरीर तो होता ही है। वस्त्रों का उद्देश्य तन का संरक्षण करना, उसे शोभा प्राप्त करा देना और शरीर के सामाजिक व्यवहारों को सुविधापूर्ण बनाना भी होता है। राज्य भी राष्ट्र की सेवा के लिए होता है। जो राज्य राष्ट्र की उचित ढंग से सेवा न करता हो, उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदला जा सकता है। राष्ट्र में सत्तांतरण हुआ, इतना ही उसका अर्थ होता है। विदेशी सत्ता क्यों राष्ट्र के लिए असहनीय हो जाती है? इसलिए कि राष्ट्र के स्वत्व को विदेशी प्रभुता में घुटन अनुभव होती है। विदेशी सत्ता भले ही अच्छी क्यों न हो, विदेशी राज्य एक सुराज्य भले ही क्यों न हो, स्वराज्य की प्यास उससे नहीं बुझ पाती। केवल स्वराज्य के आने से भी संतोष नहीं मिलता।

राष्ट्र की स्वराज्य से अर्थात् राष्ट्र के अंगभूत शासकों से कुछ अपेक्षाएँ होती हैं। मुख्यतः यह कि उसका कामकाज राष्ट्र के कल्याण के लिए होना चाहिए। उससे राष्ट्र का गौरव बढ़ना चाहिए। राष्ट्रहितों की रक्षा एवं गौरव के लिए काम न करते हुए जो स्वकीय शासक एवं उनका शासन अपना कामकाज संकीर्ण स्वार्थों के लिए चलाते हैं और उनकी रीतिनीतियों का निर्धारण किसी विदेशी शक्ति को प्रसन्न करने के लिए होता है तब राष्ट्र में असंतोष फैलता है। और भी एक बात यह है कि स्वराज्य को स्वावलंबी होना चाहिए। लगातार विदेशों की ताल पर नाचने की स्थिति नहीं आनी चाहिए। यही राष्ट्र की इच्छा होती है। स्वराज्य को स्वावलंबी बनाने में राज्य या सरकार यदि असफल होती है, और राष्ट्र की भौतिक एवं आत्मिक प्रगति में बाधा पहुँचाती है, तो राष्ट्र में शासनकर्ताओं के प्रति अप्रीति अवश्य उत्पन्न होगी। स्वराज्य के साथ ही प्रभुसत्ता का होना भी नितांत आवश्यक है। शासन - व्यवस्था और प्रभुसत्ता के बिना स्वराज्य का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। संयुक्त राष्ट्रसंघ में सदस्यता पाने वाले राज्य सार्वभौम राज्य (सोवेरीन स्टेट्स) होते हैं। राष्ट्र की प्रकृति, स्वभाव, स्वाभिमान एवं स्वत्व से विसंगत व्यवहार करने वाले राज्य को स्थिरता कभी प्राप्त नहीं होती। उसे शांति नहीं मिलती। हमारे देश में व्याप्त अशांति एवं असंतोष की मूलगामी मीमांसा करनी हो तो इसी प्रकार करनी पड़ेगी। राज्य को ही सर्वस्व या राज्य को ही राष्ट्र मानना एक वैचारिक भूल है।

ऐसी असत्य धारणा का पोषण राष्ट्र शरीर में न हो, इस बात की चिंता करनी होती है। अन्यथा, राष्ट्र की सेवा करने के लिए राज्य होता है, उस राष्ट्र को ही गौण बनाकर राज्य ही सर्वेसर्वा हो जाता है। फिर वह किसी न किसी की सामंशाही का शिकार बन जाता है। किसी भी

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थिति में परराज्य तो होना ही नहीं चाहिए, किन्तु वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि स्वराज्य में राष्ट्र के मानस में इस भावना का निर्माण हो कि यह हमारा अपना राज्य है। विकृति से बचने के लिए राष्ट्रशरीर का सुदृढ़ होना आवश्यक होता है। उसकी रोगप्रतिकारक शक्ति प्रखर होनी चाहिए, क्योंकि राज्य को राष्ट्र से ही बल प्राप्त होता है। राज्य का आधार राष्ट्र ही होता है। भारत के परिप्रेक्ष्य में कहना पड़ेगा कि यहाँ राष्ट्र क्षीण है, उपेक्षित है। स्वराज्य है तो सही, किन्तु वह राष्ट्रसेवा का साधन बनकर काम नहीं करता। दुर्भाग्य से आज राष्ट्र में इतनी जागृति एवं जीवमानता नहीं है कि वह अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली शासनव्यवस्था यहाँ ला सके। उसके बिना हम राष्ट्र और राज्य वास्तविक संबंधों को अनुभव नहीं कर सकेंगे। राज्य राष्ट्र का प्रतिनिधित्व अवश्य करता है, किन्तु प्रतिनिधि योग्य ढंग से काम न करता हो तो बदलने का साहस राष्ट्र में होना आवश्यक है, तभी संबंध ठीक रहते हैं।

राज्य का कार्य

इसका भी विचार करना चाहिए कि एक व्यवस्था या सेवासंस्था के नाते राज्य का वस्तुतः कार्य होता क्या है? हिंदू अवधारणा के अनुसार ये कार्य दो प्रकार के होते हैं : प्रथम यह कि राज्य की प्रजा का जीवन निरापद तथा विकासोन्मुख होने के लिए आवश्यक शांति और सुरक्षा का वातावरण बनाये रखना। दानवी या समाजविरोधी शक्तियाँ उसमें कोई विक्षेप लाती हों, तो उनका नियमन करना। इसके लिए पं. दीनदयाल जी ने पुलिस-व्यवस्था का उदाहरण दिया है। किसी बस्ती में शांति हो, कहीं कोई भी गड़बड़ या उपद्रव न हो, चोरी-डकैती की कोई संभावना न हो, तो वहाँ हमें पुलिस के अस्तित्व का भी आभास नहीं होता। किन्तु शांतिभंग, झगड़ा, संघर्ष आदि के प्रसंग आते ही हमें तुरंत पुलिस का स्मरण आता है। उसे बुलाया जाता है या वह स्वयं ही घटनास्थल पर आ पहुँचती है। शांति और सुव्यवस्था को बनाये रखना (लॉ एंड आर्डर) शासन का प्रमुख कार्य माना जाता है। राष्ट्र द्वारा निर्मित राज्यव्यवस्था इस न्यूनतम कर्तव्य को निभा नहीं पाती हो, शांति एवं सुव्यवस्था नष्ट होकर समाजविरोधी शक्तियाँ लोकजीवन को दूभर कर रही हों, तो किसी न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
किसी परिवर्तन की आवश्यकता को राष्ट्र अनुभव करने लगता है। ऐसे समय वांछित परिवर्तन करने की क्षमता राष्ट्र के अंदर होना आवश्यक होता है।

राज्य का दूसरा कार्य है नागरिकों की जीवनविषयक समस्याओं का दक्षतापूर्वक निराकरण करना। उसे यह सावधानी बरतनी होती है कि समाज के दुर्बल, असहाय एवं विपन्न वर्ग का शोषण सबल एवं साधनसंपन्न वर्ग द्वारा न हो सके। यह देखना राज्य का दायित्व होता है कि नागरिक जीवन न्यायनिर्बन्धों की सीमाओं के अंदर ठीक से चलता रहे। इसके लिए ही राज्य नामक एक विशिष्ट व्यवस्था का निर्माण किया जाता है। किन्तु यह व्यवस्था राष्ट्र नहीं होती, राष्ट्र तो स्वतंत्र एवं स्थायी रूप में होता ही है। चुनाव के मत, विभिन्न वाद, अल्पमत या बहुमत आदि का सरकार पर तो परिणाम हो सकता है, किन्तु राष्ट्र की तो स्वयंभू सत्ता होती है जो बदलते राज्यशासनों में भी सदा – सर्वदा बनी रहती है।

इन दो कार्यों के अतिरिक्त राज्य का एक तीसरा कार्य भी होता है। वह है राष्ट्र की ओर से विश्व के अन्य राज्यों के साथ उचित संबंधों का निर्माण करना तथा विदेशी आक्रमण की संभावना को टालते रहना। विदेशी आक्रमण होने पर राष्ट्र की संगठित शक्ति द्वारा उसका प्रतिकार प्रमुखता से राज्यव्यवस्था को ही करना होता है। राष्ट्र का अपना राज्य न होने की स्थिति में राष्ट्र ही विदेशी शक्ति के विरुद्ध प्राणप्रण से लड़ता है। इसके भी उदाहरण हमारे इतिहास में जितने चाहे, मिलते हैं। यहाँ अंग्रेजों की सत्ता थी, तब हमारा अपना राज्य कहाँ था? फिर ब्रिटिश सत्ता से किसने संघर्ष किया? उससे पूर्व मुगलों की बहुत शक्तिशाली सत्ता यहाँ थी। उस सत्ता के विरुद्ध स्वतंत्रता के लिए प्रदीर्घ संग्राम किसने किया? हम बड़े गर्व के साथ कहते हैं कि हम स्वतंत्रता के लिए लड़े थे। इसमें जो 'हम' है वही हमारे राष्ट्रस्वरूप का बोध कराता है। संभाजी की मृत्यु के साथ ही हमारी राज्यसत्ता तो प्रायः नष्ट सी हो गयी थी। इसके उपरांत लगातार 18 वर्ष तक लड़ते रहकर मुगल सम्राट् औरंगजेब को पराजित एवं हताश अवस्था में अंतिम साँस लेने को बाध्य करने वाली तेजस्विनी शक्ति राष्ट्र की ही थी। विदेशों का उदाहरण लेना हो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो कहना होगा कि हिटलर के विरुद्ध रूसी साम्यवाद ने नहीं, अपितु रूसी राष्ट्रभावना ने ही युद्ध किया था। इसी राष्ट्रभावना ने हिटलर के सारे सपने धूल में मिला दिये। मार्क्स ने तो कहा था कि राष्ट्र एक पूँजीवादी परिकल्पना है! किन्तु फिर भी कम्युनिस्ट क्रांति के बाद भी रूसी राष्ट्र का लोप नहीं हुआ। प्रत्यक्ष प्राप्त अनुभव इसका साक्षी है। वहाँ की कम्युनिस्ट सरकार की भी राष्ट्रीय चेतनाशक्ति का केन्द्र बनकर ही शत्रु का सामना करते बना था। प्राचीन काल में सम्राट् चंद्रगुप्त ने ग्रीक आक्रान्ताओं को धूल चटायी थी। उसे तो राज्य द्वारा राष्ट्ररक्षा का अपना दायित्व दक्षतापूर्वक निभाने का ही परिचायक मानना पड़ता है। इसीलिए पं. दीनदयाल जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि 'राज्य राष्ट्र के लिए होता है। राष्ट्रीयता राजनीति के लिए नहीं हुआ करती, राजनीति को ही राष्ट्रीयता का पोषण करने वाली होना होता है। राष्ट्र को क्षीण करने वाली राजनीति को त्याज्य ही मानना चाहिए।' (राष्ट्रजीवन की दिशा) यह निष्कर्ष आज की राजनीति के परिप्रेक्ष्य में इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसका और स्पष्टीकण अनावश्यक है। ब्रिटिशों ने यहाँ के राष्ट्र को क्षीण करने के उद्देश्य से ही 'फूट डालो और राज्य करो' वाली नीति अपनायी थी। यहाँ के प्राचीन हिंदू राष्ट्र को दुर्बल करने के लिए उन्होंने मुस्लिमों को बढ़ावा दिया। ईसाई मत का प्रचार कर उसके द्वारा यहाँ के लोगों का अराष्ट्रीयकरण कराने का षड्यंत्र उन्होंने रचा। राष्ट्र के बारे में भ्रांतिपूर्ण अवधारणाएँ प्रस्तुत कीं। हिंदू समाज में भीतरी कलह सुलगाने की कुटिल चाल चली। नाना प्रकार के आंतरिक झगड़े उन्होंने प्रारंभ करवा दिये। उनका हर पग इसी चाल के अनुसार उठता था कि एक राष्ट्र में अनेक परस्परविरोधी राज्य बन जायें। राष्ट्र को हतप्रभ बनाने का ही यह सारा प्रयास था और वह जानबूझकर किया गया।

स्वराज्य की पराधीनता

इस सारी चाल को समझते हुए भी 1947 के बाद की राजनीति ने राष्ट्रीयता का पोषण करने के कर्तव्य को नहीं अपनाया। राज्य नामक संस्था राष्ट्र की सेवा करने के अपने मूल उद्देश्य को भुला बैठी। राष्ट्र विगठित और अपनी पहचान के बारे में भ्रांतियों में रहता हो तो राज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर अंकुश रखने वाली राष्ट्रीय शक्ति प्रकट नहीं हो पाती। स्वदेशी राज्य भी राष्ट्र के लिए पोषक बनने के स्थान पर मारक होने लगे तो उस स्वराज्य का विरोध करना राष्ट्र के लिए अपरिहार्य बन जाता है। यही पं. दीनदयाल जी की स्पष्ट भूमिका थी। दि. 13 मई, 1965 को पुणे में अपने एक भाषण में उन्होंने 'स्वतंत्रता और स्वराज्य' विषय पर बड़ा ही दो टूक मत प्रदर्शित किया था। उन्होंने कहा – ''स्वराज्य और स्वतंत्रता, दोनों शब्दों को समानार्थ में प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु गहराई में जाकर सोचने पर दिखाई देगा कि स्वराज्य में भी राष्ट्र पराधीन हो सकता है। स्वराज्य स्वतंत्रता का केवल एक अंग मात्र है। अपने लोगों के राज्य को स्वराज्य कहते हैं। किन्तु स्वतंत्रता का अर्थ इतना सीमित नहीं है। स्वतंत्रता का संबंध तो हमारे संपूर्ण जनजीवन के लिए उपकारक होने वाले मार्ग पर चलने से है। अर्थात् स्वराज्य जब हमारे लक्ष्यों के लिए पोषक होता है तो स्वतंत्रता में परिणत हो जाता है। वेन राजा का उदाहरण प्रख्यात है। वेन राजा सिंहासनारूढ़ होने के बाद दुराचारी बन गया तो ऋषियों ने उसे राज्यच्युत कर नष्ट कर डाला। वे ऋषि उस स्वराज्य के विरोध में खड़े हुए। स्वराज्य राष्ट्रद्रोही बन जाये तो लोगों को स्वराज्यद्रोही बनना ही पड़ता है। फ्रांस पर हिटलर द्वारा आक्रमण किया गया और मार्शल पेताँ ने हिटलर की सेना के सामने घुटने टेक दिये, तब जनरल द गाल फ्रांस से देशत्याग कर लंदन चले गये और वहाँ से उन्होंने घोषित किया कि फ्रांस द्वारा स्वीकृत यह शरणागतिता मुझे स्वीकार नहीं हैं। उन्होंने वहाँ फ्रांस की स्वतंत्र सरकार की स्थापना की और ललकारा कि 'फ्रांस हिटलर से लोहा लेगा।' द गाल द्वारा दी गयी वह ललकार फ्रेंच राष्ट्रीयता थी। बाद में उन्होंने वास्तव में फ्रांस को स्वतंत्रता प्राप्त करवा दी। द गाल के कार्य को ही राष्ट्रभक्ति कहा जाता है। विश्व ने उन्हें महान देशभक्त ही बताया। देशभक्तों का तो यह कर्तव्य ही होता है कि स्वराज्य स्वतंत्रता के लिए पोषक हो तो उसका समर्थन करें और घातक हो तो उसका विरोध करें। प्रह्लाद और विभीषण दोनों को परम भागवतों में गिना जाता है। किन्तु प्रह्लाद ने तो प्रत्यक्ष अपने पिता का ही विरोध किया था और विभीषण अपने भाई रावण का पक्ष छोड़कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम के पक्ष में आ मिला था। अतः यही कहना होगा कि स्वतंत्रता के लिए उन्होंने स्वराज्य का विरोध किया। परायों के राज्य का न होना एक अभावात्मक अवस्था है, जिसे राजनीतिक स्वतंत्रता (पोलिटिकल फ्रीडम) ही कहा जा सकता है। किन्तु स्वतंत्रता की परिकल्पना इससे कहीं अधिक व्यापक है। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्वतंत्रताओं का भी स्वतंत्रता में ही समावेश होता है। स्वतंत्रता का विचार टुकड़ों में नहीं किया जा सकता।'' पंडित जी का यह प्रतिपादन इसी बात का साक्षी है कि राष्ट्रविचार प्रस्तुत करते समय वे कितनी सावधानी एवं सतर्कता के साथ सारी सूक्ष्मताओं का विश्लेषण किया करते थे, उनके तर्क कितने ठोस होते थे और वैचारिक संभ्रम को छोड़कर उचित कर्तव्यबोध जगाने में वे कितने दक्ष हुआ करते थे। स्वराज्य और स्वतंत्रता का आशय इस प्रकार लोगों को स्पष्ट समझाने और राष्ट्रहित की एकमात्र कसौटी पर प्रत्येक परिकल्पना को परखने का प्रयोग कितने राजनेताओं ने किया होगा? विपक्ष की भूमिका केवल यही नहीं होती कि सत्तारूढ़ दल का विरोध ही करता रहे, अपितु, राष्ट्रहितों का भावात्मक आग्रह भी उसे रखना चाहिए। इसी अर्थ में विरोधी दलनेता की भूमिका को पं. दीनदयाल जी ने कुशलता से निभाया।

कसौटी राष्ट्रहित की

इस सारे प्रतिपादन द्वारा पं. दीनदयाल जी ने इस आवश्यकता को ही प्रस्तुत किया है कि क्षेत्र कोई भी हो, देश के सभी कार्यों एवं योजनाओं की प्रधान कसौटी राष्ट्रहित ही होना चाहिए। उन्होंने धर्म की सार्वभौमिकता, राष्ट्र की स्वयंभू, स्थायी एवं जीवमान सत्ता, राज्य के कर्तव्य, स्वराज्य, सुराज्य और स्वतंत्रता के निश्चित आशय, आदि सब बातों को सहजता से स्पष्ट किया है। शासन की अत्यधिक प्रभुता एवं राष्ट्र की दुर्बलता एवं आपत्तिजनक विकृति है, ऐसी स्पष्ट चेतावनी भी उन्होने दी है। निःसंदेह उनके इस चिंतन ने अनेक प्रचलित परिकल्पनाओं को धक्का दिया है। आगे चलकर जयप्रकाश जी ने भी कहा कि भारत, पाकिस्तान तथा बांगलादेश यद्यपि तीन पृथक राज्य हो गये हैं, फिर भी इस संपूर्ण भूभाग का राष्ट्र तो एक ही है। राज्य राष्ट्र नहीं है, इसी सिद्धांत के अनुसार पं. दीनदयाल जी अखंड भारत का विचार दो टूक शब्दों में प्रस्तुत किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते थे। उनके विवेचन से यह भी ध्यान में आता है कि एक राज्य में अनेक राष्ट्रों को ठूँसने अथवा एक राष्ट्र को कृत्रिमता से अनेक राज्यों में विभाजित करने के कारण ही विश्व के अनेक जनसमाजों एवं भूखंडों में आंदोलन या उत्पात हो रहे हैं। अतः महत्वाकाँक्षी पराये राष्ट्रों के स्वार्थवश निर्मित देशविभाजनों को नष्ट करने की इच्छा जर्मनी, कोरिया, अथवा भारत की जनता में हो तो उसे स्वाभाविक ही मानना पड़ेगा। विश्व में अन्यत्र व्यवच्छेदक राष्ट्रीय विशेषताएँ, उन राष्ट्रों की अपनी प्रकृति, उनका जीवन-लक्ष्य आदि की परिकल्पनाएँ पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट हों या न हों, भारत में वे बिल्कुल स्पष्ट हैं। हो सकता है कि अन्यत्र इन परिकल्पनाओं को और स्पष्ट करने के लिए शायद इतिहास के कुछ और पृष्ठ लग जायें। उदाहरणार्थ कनाडा अनेक जाति-समूहों (एथनिक ग्रुप्स) को मिलाकर अभी कुछ शताब्दियों पूर्व ही बनाया गया एक राज्य है। वह एक राज्य है, एक शासन के अधीन है, किन्तु एकात्म सांस्कृतिक निकाय के नाते आज भी परिपक्व नहीं हो पाया है। फ्रेंच परंपरा के बारे में आत्मीयता का अनुभव करने वाला एक बड़ा जनसमूह वहाँ रहता है। फ्रेंचों के लिए स्वायत्त होमलैण्ड की आकाँक्षा उसके अंतःकरण में जाग्रत है। कुछ वर्ष पूर्व एक बार द गाल कनाडा गये तो इस अलगाव की भावना को लोगों ने स्पष्ट शब्दों मुखर किया था। द गाल ने इस भावना की प्रशंसा की थी, जिसके परिणामस्वरूप उत्पन्न तनाव के कारण द गाल को अपनी कनाडा - यात्रा अधूरी छोड़कर लौट जाना पड़ा था। सोवियत रूस समाजवादी राज्य तो है, किन्तु एकरस राष्ट्र भी है, ऐसा आज भी नहीं कहा जा सकता। वहाँ कम से कम सौ राष्ट्रीयताएँ हैं और उनमें से प्रत्येक में अपनी अलग पहचान की भावना बनी हुई है, ऐसा जानकारों का कहना है।

इसकी तुलना में हिंदू राष्ट्र की प्राचीनता एवं उसकी जीवनधारा की अद्भुत निरंतरता के कारण यहाँ सांस्कृतिक राष्ट्रीयता हजारों वर्ष से परिपक्व है। हिंदुत्व के सूत्र की उपेक्षा कर हिंदुस्थान के एक राष्ट्रीयत्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आज कल की राजनीति भारत के जनसमाजों को जोड़ने के स्थान पर एक-दूसरे से तोड़ने का ही काम अधिक कर रही है। इसीलिए राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में राजनीति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासनसत्ता की परिसीमाओं एवं कर्तव्यों का क्या स्थान है, ठीक से समझने की आवश्यकता है। 'हिंदू' ईसाई या इस्लामी संप्रदायों की पंक्ति में बिठाया जा सकने वाला एक संप्रदाय नहीं है। वह तो विशिष्ट जीवन-दृष्टि और जीवन-प्रणाली का बोध जगाने वाला और सबको अपने अंदर समा सकने वाला एक अत्यंत गौरवशाली शब्द है। हिंदू अभिधान से पहचाने जाने वाले समाज ने भारतभूमि में इसी एकात्म सांस्कृतिक जीवनप्रवाह (वे ऑफ लाइफ) का विकास किया है और इसीलिए स्वाभाविकतः यह हिंदू राष्ट्र है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक और बंबई से कलकत्ता तक देश को जोड़ने वाला यही शब्द है। क्यों मराठी व्यक्ति को असम की घटनाओं के बारे में चिंता होती है? तमिल व्यक्ति काश्मीर की घटनाओं से अशांत क्यों होता है? उसमें हिंदुत्व का बंधन है, यही उसका एकमात्र उत्तर है। अपने इस राष्ट्रीय स्वत्व का पोषण करना स्वराज्य का कार्य है। भारत में राज्यसंस्था का यही लक्ष्य है। इसके विपरीत कुछ होता हो तो उसे निश्चय ही राष्ट्रहित के लिए मारक कहना पड़ेगा। पं. दीनदयाल जी का विचार इतना स्पष्ट, स्वाभाविक और राष्ट्रीय कुम्हलाहट के मूल कारणों पर अचूक उंगली रखने वाला है।

○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6

यज्ञचक्र

पं.दीनदयाल जी ने बार-बार बताया है कि शासनसत्ता महत्त्वपूर्ण हो, तब भी शासन राष्ट्र का सर्वस्व नहीं होता। वह तो राष्ट्र का मात्र एक अंग होता है। और कोई अंग कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, उस एक पर ही सारा बल देना राष्ट्रजीवन की निरंतरता और चेतनाशील अवस्था के लिए सहायक नहीं होता। राष्ट्रजीवन को परिपुष्ट करने के लिए जहाँ शासन को राजधर्मप्रधान संस्था या व्यवस्था होना चाहिए वहाँ अन्य अनेक संस्थाओं और व्यवस्थाओं को भी अपने धर्मानुसार अर्थात् समाज की धारणा सुयोग्यतापूर्वक करने के लिए उचित नियमों का पालन करते हुए कार्यशील रहना चाहिए। इनमें से प्रत्येक व्यवस्था राष्ट्र के लिए है और वह राष्ट्र के प्रगतिशील अस्तित्व के लिए पोषक होनी चाहिए, यह विवेक सदैव बना रहना चाहिए। उदाहरण के लिए, समाज - जीवन में परिवार एक संस्था या व्यवस्था है। व्यक्ति से राष्ट्र तक के विकास-क्रम में परिवार संस्था दृढ़मूल हो गयी है और उसे राष्ट्रजीवन का सबसे छोटा घटक माना जाता है। यह व्यवस्था भी राष्ट्रानुकूल होनी चाहिए, यही दीनदयाल जी जैसे विचारकों का आग्रह होता है। राष्ट्रानुकूल शब्द का अर्थ भी उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में बताया है कि राष्ट्र के मूल्यों (वैल्यूज), जीवनलक्ष्यों एवं परिपूर्ण जीवन के सिद्धांतों के लिए परिवार-धारणा पोषक ही होनी चाहिए। परिवार में व्यवहार भी उसी दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से होना चाहिए। वैसे संस्कार करने वाली प्रणाली परिवार में अखण्ड कार्यरत रहनी चाहिए। परराष्ट्रों के संपर्क एवं प्रभाव के कारण उसमें किसी प्रकार का संभ्रम नहीं उत्पन्न होना चाहिए। मोहवश या विकारवश होकर राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए बाधक बनने वाली प्रणाली का अंधानुकरण निश्चयपूर्वक टालना चाहिए। हमारे अपने देश की बाह्य भौतिक परिस्थिति में परिवर्तन के कारण इस व्यवस्था के बाह्यांगों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन भले ही करना पड़े, उसका कार्य कभी खंडित नहीं होने देना चाहिए। अन्यथा यह आघात समष्टि पर होगा और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आत्मा घुटन अनुभव करने लगेगी।

समष्टि - जीवन की पाठशाला

आज हम कुछ मात्रा में इसी संभ्रम के मोड़ पर आ खड़े हुए हैं। समष्टि-भावना क्षीण हो गयी है। राष्ट्रधर्म के परिपालन में हमारी मानसिकता ही व्यवधान बनती जा रही है। जब तक अधोमुखी बनी परिवार - व्यवस्था ऊर्ध्वमुखी एवं राष्ट्रानुकूल नहीं बन जाती, तब तक हमारी नाना समस्याओं का समाधान नहीं हो पायेगा। उल्टे, नयी-नयी समस्याएँ हमारे सम्मुख मुँह बाए खड़ी होती जायेंगी। परिवार शब्द में केवल पति, पत्नी और उनकी संतान का ही समावेश नहीं होता। यह परिकल्पना इतनी सीमित नहीं है। पति और पत्नी का एक नाता होता है। किन्तु उनके साथ परिवार में भाई, बहन, माता, पिता, भाभी, चाचा, ताऊ, मामा, दादा, दादी, सास, बहू, दामाद, ससुर आदि बीसियों नाते-रिश्ते भी होते हैं। एक ही मनुष्य को इनमें से अनेक नाते निभाने पड़ते हैं और तदनुसार व्यवहार करना पड़ता है। ये सब आप्तजन या परिवारजन होते हैं। उनका अपना एक समष्टि-जीवन होता है। इस समष्टि-जीवन में स्नेह, सहयोग, परस्परपूरकता, दुर्बल घटकों के प्रति आत्मीय सहानुभूति, एक-दूसरे के लिए कुछ त्याग करने की प्रवृत्ति, एक-दूसरे के सुख-दुःख में सहभागी होने की स्वाभाविक तत्परता, अतिथि-सत्कार की भावना आदि नाना गुणों का विकास अपेक्षित होता है। परिवार के लोग इन गुणों से युक्त हों तो परिवार के बाहर के समाज-जीवन पर भी उनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। हमारे यहाँ परिवार-व्यवस्था को सामाजिक सुरक्षा-योजना का ही एक भाग माना जाता है। मनुष्य अपंग हो गया, रोगग्रस्त हो गया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्थायी रूप से ही सही - बेकार हो गया अथवा कोई अनपेक्षित विपदा आ गयी तो उसे परिवार का प्रमुख आधार रहता है। बुढ़ापे में तो उसे नयी पीढ़ी पर ही निर्भर रहना पड़ता है। आवश्यक संस्कारों एवं गुणसंपदा के बिना यह सब नहीं हो सकता। अतः समष्टि-जीवन की सुव्यवस्थित रचना में परिवार-व्यवस्था की भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। शासन की कार्यकक्षा को विस्तृत कर इसकी कमी दूर नहीं की जा सकती। द्रव्यार्जन, कामतृप्ति, स्नेहाभिव्यक्ति की आंतरिक अभिलाषा, अपनेपन की सुखद भावना, व्यक्ति विकास आदि बातों का परिवार-जीवन प्राथमिक आधार होता है। इस घटक को नष्ट कर केवल शासन और प्रजा का ही संबंध शेष रखने का एक भी प्रयास आज तक कभी सफल नहीं रहा है। ऐसा ही एक लक्षणीय प्रयास रूप में कम्युनिस्ट क्रांति के बाद किया गया। मनुष्य-स्वभाव के सर्वथा विपरीत होने के कारण वह पूर्णतः असफल रहा। पति-पत्नी का सहजीवन, बच्चों का पालन-पोषण, खाने-पीने की रुचि तथा शारीरिक आवश्यकताओं के अनुसार व्यवस्था, प्रवृत्ति के अनुसार कुछ उपासना, परिवार का अपना स्वतंत्र आवास आदि स्वाभाविक रचना को वहाँ फिर से स्वीकार करना पड़ा है। वहाँ अनुभव किया गया कि मनुष्य केवल आर्थिक प्राणी नहीं है उसके जीवन में भावना, बुद्धि और आत्मा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

कुछ पाश्चात्य देशों में घड़ी का लंबक दूसरे ही छोर तक ले जाने का प्रयास हो रहा है। विचारकों के मत में वह भी समाज की सुख-शांति को ढहा देने वाला और इसलिए चिंताजनक है। कहना न होगा कि व्यक्तिस्वातंत्र्य की अतिरेकी, अव्यवहार्य एवं अशास्त्रीय परिकल्पना से उत्पन्न वासना की तृप्ति के पीछे दौड़ते रहने की छूट देने वाली ही यह प्रवृत्ति है। जिस समय जो बात सुखकारी प्रतीत हो, उसे करते जाना इस प्रवृत्ति का मुख्य सूत्र है। संयम, सहिष्णुता, त्याग, स्थिरता, पारिवारिक स्नेह और दायितव की भावना का वहाँ कोई मूल्य नहीं होता। व्यकितगत स्तर पर वासना-विकारों का ही बोलबाला होता है। प्रत्येक व्यक्ति 'केवल अपने लिए' वाले स्तर पर ही आचरण करता रहता है। विवाह-विच्छेदों का बढ़ता अनुपात, वत्सलता एवं सुसंस्कारयुक्त बालसंगोपन की अनास्था, परिवार में रुग्ण या अपंग हो गये सदस्यों की निराधार अवस्था, बड़े-बूढ़ों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
की देखभाल करने में आनाकानी, आदि सामाजिक प्रश्न इसी में से उभरे हैं। हो सकता है कि व्यक्तिगत स्तर पर संबद्ध लोगों को जीवन का आनंद लूटने का संतोष शायद मिलता हो। किन्तु इसे जीवन की सुसंस्कृत या सामाजिक स्थिरता के लिए पोषक कदापि नहीं माना जा सकता। यह बोध जागने तथा मानसिक तनाव सीमा से बाहर जाने के दुष्परिणाम व्यक्तिजीवन पर भी होने लगने के कारण उधर के सामाजिक विचारक अब सुखी एवं सुस्थिर परिवारजीवन की पुनर्रचना (रिहैबिलिटेशन ऑफ द फैमिली) की आवश्यकता का प्रतिपादन करने लगे हैं।

फिर भी हमारे यहाँ बाह्य परिस्थिति के प्रभाव से परिवार-व्यवस्था में आये कुछ परिवर्तनों को अपरिहार्य मानना चाहिए। उदाहरण के लिए पहले जैसी संयुक्त परिवार-व्यवस्था अब संभव नहीं है। पुराने समय में कृषि-व्यवसाय के कारण संयुक्त परिवार-प्रणाली भली-भाँति चली थी और घर-घर में अनेक सांस्कृतिक परम्पराएँ टिकी रहती थीं। अब शिक्षण, व्यवसाय, बढ़ता नगरीकरण, आवास की अपर्याप्तता, आय की विषमता, आदि कारणों से अलग घर बनाने की प्रथा अधिक सुविधापूर्ण लगने लगी है। इससे निस्तार का अभी कोई उपाय नहीं है। किन्तु छोटे परिवार के साथ ही मन भी स्वार्थी और संकीर्ण बन जाये और संस्कारों की धारा खण्डित हो जाये तो समष्टि-जीवन पर उसका विपरीत परिणाम होकर रहेगा। आज हम इस परिणाम को देख रहे हैं। स्नेह सूखता जा रहा है और संबंधों में एक प्रकार का रूखापन आता जा रहा है। समष्टि की दृष्टि से इससे भी बड़ी कमी यह आने लगी है कि द्रव्यार्जन एवं अपने सीमित परिवार के परे अन्य किसी काम की ओर ध्यान देने, उसके लिए समय, पैसा और श्रम देने की भावना 'गृहस्थों' तथा 'गृहिणियों' में समाप्त सी होने लगी है। परिणामतः सामाजिक कार्य के लिए लोग नहीं मिल पा रहे हैं। साधन अपर्याप्त प्रतीत होने लगे हैं। कोई भी उदात्त ध्येय सामने रहना बंद सा होता जा रहा है। आर्थिक अनुकूलता हो तो धन का विनियोग घड़ी दो घड़ी का सुख लूटने के लिए ही करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। समाज से हमें सब कुछ प्राप्त हो, सीमित परिवार (हम दो, हमारे दो) को सब प्रकार की सुविधाएँ एवं भौतिक प्रगति के अवसर समाज या शासन प्रदान करे, ऐसी अपेक्षाएँ की जाने लगी हैं। किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज का ऋण उतारने की कल्पना मन को छूती ही नहीं। किंबहुना यह सामान्य कृतज्ञ-बोध भी हमारे मन-मानस से हटता जा रहा है कि समाज के कारण ही हमें यह सब कुछ प्राप्त हुआ है। 'भोग' ही सांकेतिक शब्द बन गया है। हम अपने ही समाज की ओर परायेपन की दृष्टि से देखने के अभ्यस्त होते जा रहे हैं। 'अपने' और सामाजिक कार्य में अंतर पड़ता जा रहा है। आत्मिक उन्नति की भी उपेक्षा हो रही है। वास्तव में गृहस्थाश्रम-धर्म की यह विडम्बना ही है। इसके कारण परिवार संस्था के मूल उद्देश्य पर पानी फिर जाता है। इस स्थिति से उबरना हो तो यह भावना जगानी पड़ेगी कि राष्ट्र बड़ा है, उसके कल्याण को वरीयता देनी चाहिए तथा अपने पारिवारिक जीवन में राष्ट्रानुकूल संस्कार होते रहने चाहिए। इस बात की दक्षता बरतनी होगी कि परिवार-व्यवस्था हिंदू राष्ट्र को अभिप्रेत मूल्यसमुच्चय के लिए पोषक हो। यह दृष्टि देने के लिए कुछ समय तक सोद्देश्य संगठित प्रयास करने पड़ेंगे। परिवारों, पाठशालाओं तथा समाज की स्वयंसेवी संस्थाओं में यही काम करना पड़ेगा। नये मूल्य खोजने का कोई प्रश्न ही नहीं है। जो मूल्य हैं उन्हें व्यवहार में कैसे उतारें, यही प्रश्न है। हिंदू राष्ट्र के पुनर्निर्माण की इस प्रक्रिया को ठीक से ध्यान मे लेना चाहिए।

संस्थाएँ अनेक, उद्देश्य एक

प्रकृति का धर्म होता है कि जो निरुपयोगी है वह या तो टूटकर गिर जाता है या नये वातावरण के साथ तालमेल बिठा लेता है। जन्मना जातियों एवं वर्णों के बारे में यही होता हम देख ही रहे हैं। उन्हें वर्ण और जाति-व्यवस्था ही कहा जाता था। मूलतः जातिभेद या वर्णभेद की परिकल्पनाएँ नहीं थीं। वह विष किसी ने अपना स्वार्थ साधने के लिए ही हमारे मन में मिला दिया है। अब नये-नये प्रकार के श्रमिक-संगठन (ट्रेड-यूनियनें) या राजनीतिक दल आदि नयी संस्थाएँ उत्पन्न हो चुकी हैं। लोकतंत्र की संस्थागत व्यवस्था साकार हुई है। पंचायत-प्रणाली को ग्रामीण भागों में दृढ़ करने के लिए विधान भी बनाये गये हैं। इन सभी नयी संस्थाओं के उचित-अनुचित कार्यकलापों की छानबीन किस निकष (कसौटी) पर की जायेगी? इनमें से प्रत्येक संस्था राष्ट्र के धारण-पोषण और उसके सुस्थिर, सुखी एवं संपन्न जीवन के लिए अनुकूल हो, यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकमात्र निकष सामने आता है। राष्ट्र स्वयंभू होता है। उसका अस्तित्व एवं स्वरूप बहुमत या अल्पमत पर निर्भर नहीं होता। इस निकष पर राजनीतिक दलों की व्यवस्था को परखा जाये तो क्या दिखाई देगा? यही न, कि ये दल नयी विभेदकारी शक्तियाँ बन बैठे हैं! चुनाव एवं सत्तास्पर्द्धा ही उनका सर्वस्व हो बैठा है। उनके सामने विशुद्ध राष्ट्रकल्पना नहीं है। व्यक्ति, प्रांत, भाषा, जाति, पंथ के आधार पर समाज को विघठित करने का मानो इन्होंने बीड़ा उठा लिया है। पंचायत-व्यवस्था भी दलगत राजनीति की दलदल के विकृत एवं मूल्यविहीन झमेले में पड़ने के कारण सत्ता के विकेंद्रीकरण एवं प्रजा के स्वायत्त जीवन का माध्यम नहीं रही है। भारत की समाज-व्यवस्था सदियों से कभी एक केंद्री नहीं रही, शासनकेंद्री तो नहीं ही रही है। यहाँ ऐसी ही योजना रही है कि समाज अनेक केद्रों के माध्यम से एक ही दिशा में बढ़ता रहे। इसके लिए पं. दीनदयाल जी पंचायत-व्यवस्था का उदाहरण दिया करते थे।

इस व्यवस्था का राष्ट्रीय दृष्टि से मूल्यमापन करते हुए उन्होंने कहा है - 'ध्यान देने योग्य बात यह है कि हमारे भारत में प्राचीन काल में पंचायत-प्रणाली आज के समान शासनसत्ता की स्वैर इच्छा के अनुसार चलने वाली नहीं थी। आज पंचायत-समितियों का निर्माण मंत्रिमंडल करते हैं। उनके अधिकार एवं कर्तव्य क्या हों, विधायक तथा सांसद निर्धारित करते हैं। उनकी छानबीन के लिए सरकारी अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं। पंचों को हटाने तथा नियुक्त करने के लिए तिकड़में लगायी जाती हैं। चुनाव में तो इनके स्वरूप को ही बिगाड़ दिया जाता है। ग्रामपंचायतों का ऐसा स्वरूप प्राचीन काल में कभी नहीं था। उन्हें समाज में स्वायत्त एवं स्वयंभू घटकों का स्थान प्राप्त था। राजा उन्हें कोई आदेश नहीं दे सकता था। राजा की एक समिति होती थी और ग्राम-पंचायतों के प्रतिनिधि इस समिति मे हुआ करते थे। इस प्रकार ग्रामपंचायतों की संस्तुति राजा को माननी पड़ती थी। राजा की समिति विधान बनाने के लिए नहीं, केवल कार्य चलाने के लिए होती थी। ग्रामपंचायतें राजा की कृपा पर निर्भर नहीं होती थीं, प्रत्युत् राजा ही उनके आधार पर खड़ा होता था; यहाँ सिद्धांत था - 'विशि राजा प्रतिष्ठितः' अर्थात् प्रजा के आधार से राजा रहता है। और राजा की मान्यता होती थी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

– 'मिशो मे अंगानि सर्वत:'। विकेंद्रित राष्ट्रानुकूल जीवन शिक्षण-व्यवस्था के रूप में भी कैसे प्रतिष्ठित हो चुका था, इसे स्पष्ट करते हुए पं. दीनदयाल जी ने लिखा है – 'शैक्षणिक केंद्रों का प्रमुख कुलपति होता था वह सबके भोजन, आवास तथा शिक्षा का प्रबंध देखता था। राजा का काम केवल यही होता था कि इन शिक्षण-व्यवस्थाओं के लिए आवश्यक आर्थिक सहायता दे। अन्य प्रजा भी शिक्षण-संस्थाओं को धन और साधनसामग्री भी देती थी। छात्र गाँव में जाकर भिक्षा ले आते थे। सभी गृहस्थ उन्हें भिक्षा देते थे। इस प्रकार समाज और शासन से साधन जुटाकर कुलपति ज्ञानदान का कार्य चलाते थे। स्वयं राजा भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाये, तब भी इस व्यवस्था में कोई अंतर नहीं आता था। प्रत्येक क्षेत्र के लिए क्षेत्रानुसार स्वतंत्र व्यवस्था हुआ करती थी। राजा उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। ऐसा करना राजधर्म की परिधि में ही नहीं आता था।'' (राष्ट्रजीवन की दिशा पृष्ठ 24)

औद्योगिक क्रांति के बाद समय की आवश्यकतानुसार विश्वभर में 'ट्रेड यूनियन' (श्रमिक संघ) नामक संस्था का जन्म हुआ। किन्तु हमारी ट्रेड यूनियनें भी समग्र राष्ट्रविचार न करते हुए विशिष्ट वर्गीय अभिनिवेश से श्रमिकों में एकांगी प्रवृत्ति को ही पनपाती रही हैं। भारतीय मजदूर संघ के संस्थापक श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी ने श्रमिक-संघों (ट्रेड यूनियनों) के बारे में अपनी भूमिका व्यक्त करते हुए पुणे के एक भाषण में भली-भाँति स्पष्ट किया था कि राष्ट्र और श्रमिक – संगठनों के रूप में उत्पन्न हुई व्यवस्था का आपस में क्या संबंध होना चाहिए। उन्होंने कहा था- 'हमारे लिए यह न तो आवश्यक, न उचित और न ही सुविधाजनक है कि राजनीतिक प्रश्नों का विचार राजनीतिक दृष्टि से ही करें। चालू राजनीति में किसी का पक्ष लेने की नीति पर हम नहीं चल रहे हैं। किन्तु साथ ही हम केवल 'ब्रेड एंड बटर यूनियनिज्म' भी नहीं करते। श्रमिकों को हमने केवल आर्थिक प्राणी नहीं माना है। भारतीय मजदूर संघ केवल रोजी-रोटी दिलाने वाली संस्था नहीं है। उसे हम केवल 'ट्रेड यूनियन' भी नहीं मानते। हमारी दृष्टि में तो वह संपूर्ण राष्ट्रनिर्माण की योजना का एक भाग है। राष्ट्र निर्माण के बृहत् कार्य का भा.म. संघ एक अंग है। इसलिए हम कहते हैं कि हम राजनीति में नहीं हैं। हाँ, राष्ट्रनीति का एक अंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवश्य हैं। राजनीति और राष्ट्रनीति दो अलग-अलग बातें हैं। राष्ट्रनीति या लोकनीति प्राचीन काल से हमारे देश की अवधारणा रही है। स्मृतिकार बृहस्पति ने भी कहा है कि राज्यवृत्त और लोकवृत्त अर्थात् राजनीति एवं लोकनीति दो भिन्न बातें हैं। हम राष्ट्रनीति के अंग हैं। अतः श्रमिक-क्षेत्र में काम करते समय हमें राष्ट्रनीति के संदर्भ को सदैव ध्यान में रखना ही चाहिए। किन्तु राजनीति का विचार करने का प्रसंग आये, तब वह भी राष्ट्रनीति पर दृष्टि स्थिर रखकर ही करना चाहिए। परकीय आक्रमण या आपात स्थिति के संकटकाल में हमने वैसा विचार किया भी है।' सामान्यतः यही दिखाई देता है कि विभिन्न सामूहिक संगठन (मास आर्गनाइजेशन्स) समूचे देश को सामने रखकर राष्ट्र के एक अंग के नाते अपनी भूमिका तथा अपने कारण राष्ट्र को अधिक शक्तिसम्पन्न बनाने के उपायों का सम्यक् विचार नहीं करते।

राष्ट्र के लिए ही राजनीति

परिणामतः यद्यपि देश में पर्याप्त दौड़-धूप रहने का आभास निर्मित होता है, फिर भी लोगों में हताशा, विफलता और अधोमुखी फिसलन की भावना बढ़ती ही दिखाई देती है। जो संगठन, संस्था या व्यवस्था राष्ट्र को गौण मानकर विशिष्ट अंगों के हितसंबंधों को प्रधानता देती है और उनके लिए किसी न किसी के विरोध में खड़ी होती है, उसे जीवनशक्ति की आपूर्ति नहीं हो पाती। शीघ्र ही वह सूख या गल जाती है और उसका विकास कुंठित हो जाता है। वह दिशाहीन हो जाती है, विकृतिग्रस्त बन जाती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसा एकाध ही संगठन होता है जो 'भारत माता' को अपना देवता मानकर उसकी अर्चना का आह्वान करता है और त्याग एवं तपस्या की शिक्षा देता है। ऐसे संगठन को जीवनरस प्राप्त होता रहता है जो उसे जीवंत और विकासक्षम बनाता है। राष्ट्र की आवश्यकता के रूप में संघ का जन्म हुआ और राष्ट्र की आवश्यकता के कारण ही आज विशाल बरगद जैसा उसका विस्तार हुआ है। पं. दीनदयाल जी भी यही कहते थे कि राष्ट्रीय संदर्भों को छोड़कर, राष्ट्रानुकूलता के निकष को दुतकार कर, तथा राष्ट्रजीवन को परिपुष्ट करने के दायित्व की संकीर्ण स्वार्थवश उपेक्षा करते हुए होने वाला काम विकृतिग्रस्त एवं कुंठित हो जाता है। पहले दिशाहीन होता हुआ बाद में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह गतिशून्य भी हो जाता है। जलसिंचन राष्ट्रवृक्ष को जीवनरस पहुँचाने वाली उसकी जड़ों में करना चाहिए। उसके तने को सुदृढ़ रखना चाहिए। फिर शाखाओं, टहनियों, फलों-फूलों की अलग से चिंता करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। एकाध टहनी पूरा वृक्ष नहीं कहलाती। इसीलिए हमारे विचारों एवं निर्माण के प्रयासों का केंद्रबिंदु राष्ट्र ही होना चाहिए।

एक लेख में इस भूमिका को स्पष्ट करते हुए दीनदयाल जी ने लिखा है - 'सामर्थ्य-निर्माण का मार्ग राष्ट्रीयता ही है। व्यक्तिवादी लोग संगठित शक्ति खड़ी नहीं कर सकते। हमारे अंदर का सामूहिक भाव ही राष्ट्रीयता है। यही वह निकष है जिस पर परखा जायेगा कि हमारी प्रत्येक कृति एवं व्यवस्था सही है या गलत। लोकतंत्र में प्राप्त नागरिक अधिकारों का ही उदाहरण लें। नागरिकों को मताधिकार प्राप्त है। मतदान करते समय राष्ट्र का विचार मन में हो तो मतदान एक धर्म कहलायेगा, किन्तु व्यक्तिगत स्वार्थों से प्रेरित होकर मतदान किया गया तो वह अधर्म हो जायेगा। राष्ट्रीयता की भावना के आधार पर ही किसी व्यवस्था को गलत सिद्ध किया जा सकता है। राष्ट्रीयता की हँसी उड़ाकर तथा राष्ट्र के विचार को तिलांजलि देकर जो लोग भाँति-भाँति के वाद एवं नारे देने में ही व्यस्त रहते हैं, वे वास्तव में गलती करते हैं। उनसे कोई अच्छा कार्य होने की संभावना कभी नहीं होती। समाजवाद, पूँजीवाद, लोकतंत्रवाद या अन्य कोई भी वाद अन्ततोगत्वा एक मार्ग ही होता है। वह प्रगति का आधार नहीं होता। व्यक्ति, दल या वाद पर अधिष्ठित विचार के शिकार होकर प्रगति नहीं की जा सकती। राजनीति भी अन्ततः राष्ट्र के लिए ही होती है। राष्ट्र का विचार त्याग दिया- अर्थात् राष्ट्र की अस्मिता, इतिहास, संस्कृति एवं सभ्यता का विचार ही नहीं किया - तो राजनीति किस काम की? राष्ट्र का स्मरण रखते हुए काम किया, तो सभी का मूल्य बढ़ेगा। राष्ट्रविचार के बिना सारे शून्यवत् हो जायेंगे। राष्ट्र का विचार करते हुए पैर आगे बढ़ाये तो एक और एक मिला कर दो नहीं, ग्यारह होते हैं। राष्ट्रविचार के आधार पर संगठित होने का प्रयास किया तो एक, एक, एक, मिलाकर एक सौ ग्यारह हो जाते हैं। राष्ट्रीयता का त्याग करने का दशमलव अपूर्णांक लागू हो जाता है। उसके बाद जितने भी एक जुटायें,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तरोत्तर उनके मूल्य घटते ही जायेंगे। राष्ट्र के आधार पर ही व्यक्ति का मूल्य बढ़ता है। राष्ट्र-विचार का त्याग करने से व्यक्ति का भी मूल्य घटता है और राष्ट्र का भी। कई बार हम देखते हैं कि राष्ट्र के लिए प्राण न्यौछावर करने की भाषा मनुष्य बोलता तो है, किन्तु जीवन के सारे काम व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए ही करता रहता है। इसमें न व्यक्ति का कल्याण है, न समष्टि का हित।' (राष्ट्रजीवन की दिशा)

सन्तुलित हिंदू विचार

इसमें संदेह नहीं कि यह विचार हिंदू राष्ट्रस्वरूप पर बहुत ही उद्‌बोधक प्रकाश डालने वाला और हिंदू राष्ट्रस्वरूप को अबाधित रखते हुए विश्व की किसी भी व्यवस्था तथा विचार के स्वागत के लिए अपना द्वार खुला रखने वाला दृष्टिकोण है। इसे स्वीकार करने पर आधुनिकता का दावा करने वाले समाजवाद को कोई मोह उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि उसमें शासनसत्ता को जीवन और धन-सम्पत्ति पर सर्वाधिकार दे दिये होते हैं। व्यक्ति की प्रतिष्ठा नगण्य बना दी जाती है। मनुष्य को पूर्णतः शासनावलंबी बनाया जाता है। उसके व्यक्तिगत विकास एवं आत्मगौरव के लिए कोई स्थान नहीं रहता। व्यक्ति की सभी श्रेष्ठ प्रेरणाएँ समाप्त कर दी जाती हैं। हम नगण्य हैं,विवश हैं, यह भावना मनुष्य को शनैः शनैः हतोत्साहित करती रहती है। व्यक्ति-जीवन की यह अवस्था कदापि स्पृहणीय नहीं मानी जा सकती। वह समाज भी, जिसमें इस प्रकार जीना पड़ता है, व्यक्तिविकास के लिए अनुकूल नहीं रहता। ऐसी अवस्था हमारे राष्ट्र की जीवन-प्रणाली एवं जीवन-विचार के साथ तो सर्वथा बेमेल है, उसका आकर्षण हमें भला क्योंकर होगा? मुट्ठीभर लोग बलात् उसे हम पर थोप भी देते हैं, तो भी ऐसी व्यवस्था से सार्वत्रिक सुखनिष्पत्ति कभी नहीं होगी। समाजवादी देशों ने तो प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि वैसी वह होती भी नहीं। हिंदू मानस को अतिवादी व्यक्ति स्वातंत्र्य की परिकल्पना पर आधारित जीवन-प्रणाली भी रास नहीं आयेगी। कारण, व्यक्ति को समाज में रहना पड़ता है और समाज व्यक्तियों का ही बनता है। व्यक्ति स्वैराचारी बन गया तो समाज का समाजस्वरूप टिकेगा नहीं। कुछ अनुशासन, समाजधारणा के कुछ नियम, समाज के लिए कुछ देने की प्रवृत्ति और समाज जीवन में बाधा न बनने की दक्षता आदि गुण व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और छोटे व्यक्ति-समूहों में आवश्यक होते हैं। किंबहुना समाज के वैभव, स्वास्थ्य एवं स्थिरता के लिए व्यक्ति का विकास आवश्यक होता है। समाज और व्यक्ति का एकांगी विचार कर और उनके तनावों को अपरिहार्य मानकर की गयी कोई भी रचना हिंदू राष्ट्र की प्रकृति के साथ सुसंगत नहीं है। यहाँ की आधारभूत व्यवस्था की दृष्टि से पं. दीनदयाल जी को दोनों अतिवादी छोर अमान्य थे।

हिंदू चिंतन एवं समाज-धारणा के विचार का निष्कर्ष उन्होंने यह प्रस्तुत किया है कि व्यक्ति और समाज में परस्परपूरकता एवं परस्परानुकूलता होनी चाहिए। यही देश की सारी सत्ता एवं व्यवस्था का मार्गदर्शक सूत्र हो। व्यक्तिजीवन समाज एवं राष्ट्र के अनुकूल हो, इस विचार में व्यक्ति के स्वतंत्र जीवन को मान्यता दी गयी है। व्यक्ति के विकास के मूल्य को ग्राह्य माना गया है और समाज के सुव्यवस्थित एवं प्रगतिशील जीवन को भी आवश्यक समझा गया है। बात इतनी ही है कि इनमें विरोध को स्वीकारा नहीं गया है तथा संघर्ष को गृहीत नहीं माना गया है। जिससे व्यक्ति अपने विकास के साथ समाज की आवश्यकताओं को पूरा कर सके और व्यक्ति-व्यक्ति में सामंजस्य का निर्माण करते हुए सारे समाज को उन्नत, प्रगतिशील एवं पुष्ट करे, ऐसे समन्वित विचार का ही पक्ष यहाँ सदा लिया गया है। उस प्रकार की व्यवस्था को प्रचलित करने में भारतीय मनीषियों ने सफलता प्राप्त की है। परस्परानुकूल व्यक्ति और समाज भारतीय मानस को भाने वाला विचार है। वही भारतीय जीवन-रचना की विशेषता है। परस्परानुकूलता शब्द का बहुत ही सुंदर विश्लेषण चेतनामय राष्ट्रजीवन के परिप्रेक्ष्य में पं. दीनदयाल जी ने किया है जिसे कुछ उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करना समीचीन होगा।

उन्होंने कहा है - 'जिस समाज-व्यवस्था में मनुष्य-मात्र के सामाजिक व्यवहार में परस्परानुकूलता होगी, वहीं व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं प्रतिष्ठा की प्रत्याभूति (गारण्टी) मिल सकेगी। व्यक्ति स्वतंत्र है, इसका अर्थ इस संदर्भ में यह होगा कि अन्य लोगों के लिए अनुकूल बनने को वह स्वतंत्र है। अपने जीवन में दूसरों के लिए अनुकूल वही बन सकता है जिसकी अपनी कोई सत्ता हो। अनुकूल बनने का अर्थ यह नहीं है कि दूसरों पर निर्भर बन जायें। किसी पर निर्भर होने में दीनता एवं स्वार्थ निहित होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, परतंत्रता का भी भाव होता है। परस्परानुकूलता में परतंत्रता की कोई भावना नहीं होती। दूसरों के प्रति अनुकूल आचरण करने की स्वतंत्रता उसमें होती है, अर्थात् परस्परानुकूल बनने में हमारा पुरुषार्थ प्रकट होता है। इस प्रकार व्यक्ति की शक्तियों का अधिकतम उपयोग करते हुए दूसरों का कल्याण करने की भावना के कारण निरंतर विकसित होने का अवसर प्राप्त होता है। हम एक-दूसरे के लिए अनुकूल बनकर काम करें, तो सभी आनंद का अनुभव करते हैं। उस आनंद का एक अंश अपने भाग में भी आता है। हमारा अपना भी विकास होता है और व्यक्ति तथा समाज दोनों सुखी होते हैं। मानव-शरीर पर जो-जो बातें लागू होती हैं, वही समाजशरीर पर भी लागू होती हैं। शरीर का प्रत्येक अवयव सारे शरीर को सुदृढ़, रोगमुक्त एवं कार्यक्षम रखने हेतु वही कार्य करता है जो शरीर के लिए अनुकूल हो। भुजाओं का उपयोग शरीर की रक्षा के लिए होता है। पेट में जाने वाले अन्न के कारण शरीर बलवान बनता है। विभिन्न अवयवों के बारे में भी ऐसा ही होता है। ये अवयव आपस में झगड़ा करने लगें तो शरीर मृत्युमार्ग पर जायेगा और प्राण-शक्ति के शरीर से जाते ही सारे अवयव चेतनाशून्य हो जायेंगे। उनकी गतिविधि सदा के लिए शांत हो जायेगी। इसीलिए शरीर के सभी अवयवों को परस्परानुकूल माना गया है। हाथ थाली से ग्रास उठाकर मुँह में डालेगा। मुँह उसका ठीक से चर्वण कर उसे पेट मे खिसकायेगा। वहाँ उसका पाचन होगा, रक्त बनेगा, और सारे शरीर को बल प्राप्त होगा। प्रत्येक अवयव इससे सक्षम बना रहेगा।'

यही यज्ञचक्र है

समाज की सभी संस्थाओं, व्यवस्थाओं एवं रचनाओं को इस सामंजस्य और परस्परपूरकता के महत्त्व को ध्यान में लेना चाहिए। तभी राष्ट्र की चेतनाशक्ति, उसका पुरुषार्थ और जीवनसातत्य टिके रहेंगे। यही निराला विचार गीता में 'यज्ञचक्र' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। 'एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति। (अ. 3, श्लोक 16) इस गीतावचन में व्यक्ति और समाज के संबंधों का सारा कर्तव्यबोध समाया हुआ है। इसी बोध पर पं. दीनदयाल जी का राष्ट्रविचार, तात्त्विक एवं व्यावहारिक - दोनों अंगों से साकार हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने देशबांधवों को सर्वथा नयी दृष्टि देने वाला, उनकी स्वत्वसंपन्न प्रतिभा का सुंदर विलास इस सारे चिंतन में प्रकट होता है। शब्द तो पुराने ही होते हैं। वे जिन क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रकटीकरण करते हैं, वे भी मूलतः नयी नहीं होतीं। किन्तु समाजजीवन के संदर्भ में उनके आशय की अभिव्यक्ति पं. दीनदयाल जी इस ढंग से करते हैं, कि हमें लगता है कि हमें कुछ नया ज्ञान प्राप्त हुआ है। वैसे देखा जाय तो 'यज्ञ' शब्द में नया क्या है? हम तो कहते आये हैं कि भारतीय संस्कृति यज्ञप्रधान है। फिर हर पुरानी बात या वस्तु को नाक-भौं सिकोड़कर देखने वाले आधुनिकता के अभिनिवेश से कहते रहते हैं कि नये युग में यज्ञ आदि सब कुछ कालबाह्य हो गया है और उसका अब कोई उपयोग नहीं रहा है। किंतु दीनदयाल जी की भूमिका निरी भावुकता की नहीं, वरन् बुद्धिवादी तत्त्वचिंतक की है। मानव के परम सुख का तत्त्व यज्ञ में निहित है और सामंजस्यपूर्ण समाजधारणा का मार्ग यज्ञ ही दर्शाता है, इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है - ''व्यक्ति समाज पर निर्भर है और समाज सृष्टि पर। सृष्टि की नियति परमेष्ठी है। जब तक इनमें परस्पर सहयोग रहता है, तब तक सब कुछ ठीक चलता है। यही यज्ञचक्र है। गीता में कहा गया है कि प्राणी अन्न से, अन्न वर्षा से, वर्षा यज्ञ से और यज्ञ ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं। यह एक चक्र इस प्रकार पूर्ण होता है। यह अखण्ड चक्र सभी सुखों की धारणा करता है। इसे ही हम धर्म के नाम से जानते हैं। अर्थात् परस्पर के बारे में अपने कर्तव्यों को करते रहने से जो धारणारूप धर्म प्रकट होता है, वही सुख है।'' (राष्ट्रजीवन की दिशा)

एक अन्य स्थान पर दीनदयाल जी ने लिखा है - ''यज्ञ करते समय हम कहते हैं - 'इदं न मम', यह मेरा नहीं है। यज्ञ पूरा होने के बाद जो शेष रहता है, हम प्रसाद के रूप में ग्रहण करते हैं। पहले प्रसाद, बाद में यज्ञ, ऐसा कभी नहीं होता। हमें यह सिखाया गया है कि हम जितना उत्पादन करते हैं या अर्जित करते हैं, सारा का सारा अपने अकेले के लिए नहीं होता। एक कमाता है, किन्तु उसका भोग परिवार के सारे लोग करते हैं। अन्न भी हम केवल अपने लिए नहीं ग्रहण करते। परमात्मा की परम कृपा से प्राप्त मानव शरीर का संरक्षण हो और वह परमात्मा के ही काम आ सके, इस हेतु हम अन्न ग्रहण करते हैं। इसमें भावना यह है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि "मैं केवल मेरा अपना ही नहीं, अपितु दूसरों का भी विचार करुँगा।" यह विचार हमारे रोम-रोम में समा गया तो हम कह सकेंगे कि हमारा जीवन धर्माधिष्ठित है। इसी में त्याग-भावना उत्पन्न होती है और उस त्याग-भावना के बल पर जीवन की सभी समस्याओं का समाधान भी होता है।"

हिंदू चिंतन का यह अनन्य परस्परानुकूलता एवं परस्परपूरकता का भाव और व्यक्तिगत भोगलिप्सा पर नियंत्रण ही यज्ञतत्व है। वह कभी पुराना नहीं पड़ेगा। समाजधारणा के लिए उसकी सदैव आवश्यकता होती है। ऐसी अनेक संस्थाओं एवं प्रणालियों का राष्ट्रसापेक्ष वेध पं. दीनदयाल जी ने लिया है। परम्परा के इन शाश्वत विचारों के सुदृढ़ आधार पर नयी स्थिति में जीवन का नव-निर्माण करना है। यही राष्ट्र-निर्माण के बारे में उनके द्वारा बार-बार किये गये विवेचन का मुख्य सूत्र है।

○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7

हिंदू राष्ट्र की चिति

राष्ट्र के बारे में आजकल सरसरी दृष्टि से जो सतही विचार किया जाता है वह पं. दीनदयाल जी को स्वीकार नहीं था। अब तक हमने राष्ट्र, राज्य, राष्ट्र की संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं, हिंदूराष्ट्र की भावात्मक कल्पना के अभाव में उत्पन्न दोषों एवं विशृंखलता आदि विषयों के बारे में उनके चिन्तन का कुछ सिंहावलोकन किया। अब उस समूचे प्रतिपादन के लिए एक और मूलभूत सिद्धान्त का विशेष रूप से विचार करना होगा। हमारा हिंदुस्थान एक प्राचीन देश है। एकात्म जनसमूह गत हजारों वर्षों के काल में एक राष्ट्र के रूप में यहाँ रहता आया है। इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर इस राष्ट्रीय भावना के पदचिह्न अमिट अंकित हैं। राष्ट्र शब्द का प्रचुर प्रयोग बिल्कुल वेदसंहिताओं के समय से यहाँ होता आया है। श्रीसूक्त या लक्ष्मी-स्तोत्र में, लाखों हिंदू जिसका पठन एवं आवर्तन करते रहते हें, लक्ष्मी का आह्वान करने वाली एक पंक्ति है - 'प्रादुर्भूतो सुराष्ट्रेऽस्मिन कीर्तिमृद्धिं ददातु मे'। अर्थात् 'क्योंकि मैं इस उत्तम राष्ट्र में जन्मा हूँ, मुझे कीर्ति एवं समृद्धि प्राप्त हों। इसमें एक अभिमान है, मातृभूमि के प्रति श्रृद्धा है। यह राष्ट्रजीवन, उसके प्राणतत्त्व, इस राष्ट्र के व्यक्ति एवं समाज की कर्मप्रेरणाओं की दिशा, कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध, समाज का उत्थान एवं पतन, समाज एवं व्यक्ति के सुख-दुःख आदि का विचार इस हजारों वर्ष के काल में यहाँ किया गया था या नहीं? देशभक्ति की भावना हमने क्या अंग्रेजों से ही सीखी है? या,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशभक्ति से ओतप्रोत शक्ति का विचार हमारे पूर्वजों ने कर रखा है? वह विचार क्या है और क्या आधुनिक काल के साथ वह मेल खाता है? पं. दीनदयाल जी ने इन प्रश्नों का गहराई एवं अध्ययनशीलता से चिंतन किया है। कहना पड़ेगा कि इस क्षेत्र के हिन्दू चिन्तन में भी एक सार्वदेशिकता है। हिंदुओं के आध्यात्मिक तत्त्वचिन्तन के साथ यह चिन्तन पूर्णरूपेण एकरूप है। शरीर के रूपक को हिंदू तत्त्ववेत्ताओं ने बारंबार सामने रखा है। स्थूल शरीर आँखों से दिखाई देता है किन्तु वही सब कुछ नहीं होता, इस बात को कोई ध्यान में नहीं रखता। वह कौन सी शक्ति होती है जिसकी प्रेरणा से कर्मेन्द्रियाँ काम करती हैं। वे किसकी सत्ता या प्रकाश में कार्यरत रहती हैं? हिंदू दार्शनिकों ने इस अदृश्य, विकार रहित, अविच्छिन्न शक्ति या चेतना को आत्मा के रूप में देखा है। आत्मा के बिना जीवमान शरीर की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आत्मशक्ति के आधार पर ही शरीर में प्राणशक्ति रहा करती है। उन शक्तियों के अभाव में शरीर अचेतन हो जाता है, नष्ट हो जाता है। भारत में राष्ट्रजीवन का विचार भी इसी प्रकार बिल्कुल शास्त्रीय पद्धति से किया गया है। देशभक्ति का विचार करने वाले शास्त्र को 'दैशिक शास्त्र' की संज्ञा प्राप्त थी। यह शब्दप्रयोग आज कहीं भी प्रयुक्त होता दिखाई नहीं देता, किन्तु उसका अर्थ है – 'देश का रक्षण करने वाला शास्त्र'। देशभक्ति इसी का रूप है।

देवतास्वरूपिणी मातृभूमि

वस्तुतः देश शब्द स्थूलार्थ में राष्ट्र का समानार्थी नहीं होता है। देश एक विशिष्ट भूभाग होता है। भारत के विभिन्न भूभागों को भी 'देश' या 'प्रदेश' कहा जाता है, उदाहरण के लिए – तेलगू देशम्, महाराष्ट्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि। किन्तु इन शब्दों के उच्चारण से हमारे मन में राष्ट्र का भाव नहीं जागता। विश्व में आज भी शायद कई भूभाग ऐसे हो सकते हैं जहाँ अभी तक राष्ट्रजीवन है ही नहीं। उनका नाम लेने से भी विशिष्ट राष्ट्र की प्रतिमा आँखों के सम्मुख साकार नहीं होती। किन्तु 'भारत देश' कहते ही राष्ट्र का विचार मन में जागता है। 'यह सुन्दर देश हमारा' कहते समय हमारा विचार केवल भूमि तक ही सीमित नहीं रहता। हमारी समुद्रवलयांकित और उत्तर में हिमगिरि की पर्वतशाखाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा संरक्षित मातृभूमि, उस पर रहने वाले राष्ट्रीय जनसमूह एवं उसकी सभी विशेषताएँ एक साथ हमारे सम्मुख साकार हो जाती हैं। हम जब किसी को 'देशभक्त' कहते हैं, तब उसकी राष्ट्रभक्ति का ही निर्देश हमें करना होता है। अर्थात् राष्ट्र के लिए भूमि की अपरिहार्यता अवश्य होती है। विशिष्ट भूखण्ड और उस पर रहने वाले 'जन' - अर्थात् मातृभूमि और उसके पुत्ररूप समाज के बिना राष्ट्र की परिकल्पना की ही नहीं जा सकती। भूमि और जन दिखाई देने वाली वस्तुएँ हैं। राष्ट्र का वर्णन करते समय उन्हीं का वर्णन करना पड़ता है। जैसे शरीर के आधार पर आत्मा, वैसे ही देश के आधार पर राष्ट्र होता है। यही कारण है कि देश कहते ही केवल भूमिखण्ड की कल्पना या केवल मृण्मय भूमिखंड सामने नहीं आता, 'वंदे मातरम्' गीत में वर्णित भाव ही मन में जागता है। प्रत्यक्ष राष्ट्रस्वरूप अधिक सूक्ष्म होता है। वह भावनात्मक और आँखों से न दिखाई देने वाला होता है। विश्व इतिहास में इस्राइल का उदाहरण सुप्रसिद्ध है। वस्तुतः फिलिस्तीन यहूदियों की मूल भूमि थी उस भूमि से उनको भाग जाना पड़ा। वे संसार भर में बिखर गये। अनेकों ने हमारे भारत में शरण ली। किन्तु भूमि छिन जाने के, राष्ट्रस्वरूप की अभिव्यक्ति का स्थूल आधार नष्ट होने के उपरान्त भी प्रत्येक यहूदी मानस में अपनी भूमि की स्मृति निरंतर बनी रही। यहूदी व्यक्ति विश्व के किसी भी कोने में क्यों न रहता हो, उसने कितनी ही समृद्धि क्यों न प्राप्त कर ली हो, उसकी आँखें सदैव फिलिस्तीन की भूमि पर लगी रहती थीं। उस भूमि पर फिर से अपना जीवन खड़ा करने का संकल्प वह बार-बार किया करता था। बीसियों पीढ़ियाँ बीत गयीं, पूरे 1800 वर्ष यहूदी राष्ट्र बिना भूमि के ठोस आधार के रहा। विश्व के मानचित्र में इस्राइल का अस्तित्व नहीं था, किन्तु अदृश्य रूप में वह सभी यहूदियों के भावविश्व मे जीवमान था। अन्ततः दूसरे विश्वयुद्ध के बाद इस राष्ट्र ने भूमि का आधार प्राप्त कर लिया और वहाँ अपने धर्म, संस्कृति, भाषा आदि सभी विशेषताओं के साथ अपना जीवन उसने खड़ा किया, उस जीवन को चैतन्यमय बनाया। उसकी इस चेतना की प्रतीति उसके द्वारा किये गये अनेक संघर्षों में मिल गयी।

यह तो ठीक है कि देश और राष्ट्र को अलग नहीं किया जा सकता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु राष्ट्र एक अधिक सूक्ष्म, गूढ़, चिरंतन अदृश्य सत्ता है, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए। स्पष्ट है कि अपनी भूमि के प्रति माता के नाते पूज्यता, आत्मीयता एवं श्रद्धा के भाव के बिना राष्ट्र सिद्ध नहीं होता। यह भाव न हो तो सारी राष्ट्रकल्पना ही विकृत हो जाती है। दिवंगत सरसंघचालक श्री गुरुजी ने 1960 के नवंबर मास में बंगलौर में दिये भाषण में एक उदाहरण दिया था कि कैसे भारत के स्वतंत्र होने के बाद बड़े-बड़े नेताओं के मन में भी इस श्रद्धा का अभाव रहा। उदाहरण स्वयं प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू द्वारा दिये गये एक वक्तव्य का था। श्री गुरुजी ने खेद के साथ कहा- "प्रधान मंत्री के भाषणों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। एक भाषण में उन्होंने कहा है कि हम लोग जिसे मातृभूमि कहते हैं वह वस्तुतः पत्थर, मिट्टी और भूमि मात्र है। उनके विचार से मिट्टी और पत्थरों से बनी इस भूमि को मातृभूमि कहना नितान्त मूर्खता है! मैं उनकी आलोचना करना नहीं चाहता, किन्तु यह एक सत्य है कि उन्होंने ऐसा कहा है। ऐसा कहते समय नेहरू जी किस मनःस्थिति में थे, मुझे ज्ञात नहीं। उनकी मनःस्थिति बदलती रही है। हमारे पूर्वजों ने हमें मातृभूमि को देवतास्वरूपिणी जननी की श्रद्धा से देखने की सीख दी है। यही हमारी परंपरा रही है। किन्तु हमारे प्रधान मंत्री कह रहे हैं कि केवल मिट्टी पत्थर अर्थात् जड़ वस्तु के रूप में ही अपनी भूमि की ओर देखें। ऐसी स्थिति में क्या किया जाये? मातृभूमि के प्रति भक्ति की भावना ऐसे में कैसे आ सकती है? सम्प्रति समाज के वरिष्ठ, मध्यम तथा निम्न, सभी स्तरों में मातृभूमि के प्रति सच्ची श्रद्धा का अभाव ही पाया जाता है।" स्पष्ट है कि राष्ट्रस्वरूप में खड़ा होने के लिए 'जन जन' में मातृभूमि के प्रति भक्तिभाव का होना नितान्त आवश्यक है।

राष्ट्र की सहज चेतना

किन्तु हमारे दैशिक शास्त्र के अनुसार भूमि तथा जन या भाषा, रहन-सहन की पद्धति, जय-पराजय, शत्रु-मित्र-संबंध और राष्ट्र के बारे में प्रत्येक समान बात को राष्ट्रत्व देने वाला सूक्ष्म अदृश्य तत्त्व निराला ही है। इस तत्त्व को शास्त्रकारों ने 'चिति' की संज्ञा दी है। लगता है कि राष्ट्रविचार प्रस्तुत करते समय पं. दीनदयाल जी ने इसी संज्ञा को स्वीकारा है, इस अर्थ में कि वह राष्ट्र की चेतना है अथवा प्रकृति से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाया हुआ राष्ट्र का स्वभाव है। दैशिक शास्त्रकारों के अनुसार कृत्रिमता से राष्ट्र का निर्माण सम्भव ही नहीं है। राज्य का निर्माण कृत्रिमता से किया जा सकता है। विश्वयुद्ध के बाद ऐसे अनेक राज्यों का निर्माण हुआ भी है। राष्ट्र की अन्य भी अनेक छोटी-बड़ी संस्थाएँ कृत्रिम हो सकती हैं। मानव संस्थाओं को तो बना सकते हैं, किन्तु राष्ट्र का निर्माण उसकी चिति के साथ ही होता है। चिति अर्थात् उस राष्ट्रीय चेतना का अस्तित्व राष्ट्र का अस्तित्व होता है। चिति के क्षीण होते ही राष्ट्र दुर्बल हो जाता है। चिति का पूर्णतः लोप होते ही राष्ट्र का भी लोप हो जाता है। चिति शक्तिमान हो तो राष्ट्र का चौमुखी विकास होता है। प्रत्येक राष्ट्र की चिति उसका जीवनलक्ष्य होता है। राष्ट्र में उसके जीवनलक्ष्य के अनुसार सर्वांगीण जीवन चलता हो, तो राष्ट्र परम सुख अनुभव करता है। इतिहास में हम देखते हैं कि कुछ राष्ट्र नष्ट हो गये। उनका हुआ क्या? क्या वह भूभाग नष्ट हो गया जिस पर वे राष्ट्र थे? क्या अब वहाँ लोग नहीं रहते हैं? ऐसा तो कुछ हुआ नहीं। फिर भी हम लोग कहा करते हैं कि वह पुराना राष्ट्र अब नहीं रहा। प्राचीन ईरानी राष्ट्र आज नहीं है। मिस्र (इजिप्त) और यूनान राष्ट्र भी आज नहीं हैं। इसका अर्थ है कि अब वहाँ भिन्न चिति धारण करने वाले जनसमाज और शासनसंस्थाएँ, भिन्न संस्कृति एवं जीवन-दृष्टि वाले लोग रहते हैं। वहाँ के जनसमाजों की अस्मिता बदल गयी है। उस प्राचीनता और इस अर्वाचीनता में एकता का कोई आंतरिक सूत्र शेष नहीं है। यही बात क्या मानव-जीवन में भी हम नहीं पाते? वह छोटा होता है, फिर बड़ा बनता है और बाद में बूढ़ा हो जाता है। किन्तु इन सभी अवस्थाओं में वह अपने आपको 'मैं' ही कहता रहता है। 'मैं' का यह सातत्य उसमें किन बातों के कारण रहता है? देश में भी बाह्यतः और आंतरिक अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। वैज्ञानिकों का दावा है कि मनुष्य की पेशियों में सतत परिवर्तन होता रहता है और विशिष्ट अवधि के बाद ये पेशियाँ संपूर्णतः परिवर्तित हो जाती हैं। फिर भी मनुष्य वही रहता है, क्योंकि परिवर्तन कितने ही हुए हों, उसकी अस्मिता नहीं बदलती। यह अस्मिता उसके अंदर के आत्मतत्त्व के कारण होती है। वह सूक्ष्म एवं अमूर्त भी होती है।

पं. दीनदयाल जी विनोद में एक नाई के उस्तरे की कहानी सुनाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते थे। वह नाई अपने ग्राहकों को बताया करता था कि मेरा यह उस्तरा साठ वर्ष पुराना है। मेरे पिता भी इसी से अपना धंधा चलाया करते थे। यह बात वह बड़े गर्व के साथ कहता था। एक दिन एक ग्राहक ने ध्यान से देखा और पाया कि नाई के उस्तरे की मूठ में तो नयेपन की चमक है। उसने नाई से कहा – 'तुम्हारे उस्तरे की मूठ तो नयी लगती है। साठ वर्ष की तो कतई नहीं प्रतीत होती!' इस पर नाई सहज भाव से बोला – 'आप सही कहते हैं। अजी अभी छः माह पहले ही तो मैंने वह नयी लगवायी है।' फिर ग्राहक ने उस्तरे की पत्ती के बारे में पूछा तो पता चला कि पत्ती भी तीन वर्ष पूर्व लगवायी थी। अर्थात् मूठ नयी, पत्ती भी नयी, किन्तु उस्तरा फिर भी वही का वही – पिता के समय से चला आ रहा साठ वर्ष पुराना! उस नाई की यही मान्यता थी, यही भावना थी। बात उसकी अस्मिता एवं अभिमान की थी। राष्ट्र की भी एक 'चिति' – रूपी अस्मिता होती है। वह सामूहिक अस्मिता अथवा उसकी सहज प्रकृति हुआ करती है। इसी अस्मिता के सातत्य पर राष्ट्र का सातत्य निर्भर रहता है। एक अन्य प्रकार से भी इसे स्पष्ट किया जा सकता है। किसी वृक्ष का, उसके फलों और फूलों का विकास होता है, तो ठीक-ठीक क्या होता है? प्रकृतिधर्म के अनुसार उसे रूप प्राप्त होता है, मोगरे का फूल, गुलाब का नहीं बन जाता । बबूल में चंदन के गुण नहीं आते, न ही दसहरी आम में संतरे के गुणधर्म। जैसा बीज होगा, जैसा पौधा रोपा गया होगा, वैसा ही उसका स्वरूप होता है। ऐसे विकास में सुख भी होता है। यह विकास उत्तम हो, इसी की चिन्ता माली कर सकता है। उसे अच्छा एवं उचित खाद-पानी वह दे सकता है, किन्तु वृक्ष के प्राकृतिक स्वरूप में उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। उसका विकास अवश्य ही सशक्त हो जाता है। व्यक्ति के बारे में भी हम देखते हैं कि उसकी प्रकृति, जन्मजात रुचियों एवं गुणों के लिए पोषक वातावरण प्राप्त हो तो वह अपने क्षेत्र में चमक दिखाने के योग्य बन जाता है। कहते हैं कि 'कवि तो जन्मजात ही होता है, कृत्रिमता से बनाया नहीं जाता।' किसी में कवि की प्रतिभा होती है, किसी में शिल्पकार की। कोई उत्तम वास्तुकार बन सकता है तो अन्य कोई अच्छा वैद्य। किन्तु अनुकूल वातावरण एवं उचित अवसर न मिलने के कारण कई लोगों का जीवन असंतोष एवं हताशा से भर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है।

राष्ट्रीय सुखानुभूति का रहस्य

प्रकृति, मनुष्यों तथा राष्ट्र में इसी तत्त्व की प्रतीति हमारे सक्षम आती है। बाह्य कारणों से, हो सकता है कि प्रकृति पर थोड़ा प्रभाव पड़ जाये। किन्तु वह अपने गुणधर्म को नहीं छोड़ती। ऐसी मूल प्रकृति के साथ ही राष्ट्र का जन्म हुआ करता है। वही राष्ट्र की चेतनाशक्ति होती है और आत्मशक्ति भी। वह सारे राष्ट्रीय जनसमूह को समा लेती है। यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक एक कारण परंपरा द्वारा ही सिद्ध होती है। इस प्रकृति की विपरीत दिशा में राष्ट्र को ले जाने का प्रयास हुआ तो राष्ट्र में विकृतियाँ आ जाती हैं और नाना समस्याएँ निर्मित होती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान का निष्कर्ष भी यही है कि मनुष्य की निज प्रकृति की अवहेलना होने पर शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य फिर अशांत एवं उदास बन जाता है। उसकी प्रसन्नता तिरोहित हो जाती है, कार्यशक्ति दुर्बल पड़ जाती है और वह सुखानुभूति से वंचित हो जाता है। यही बात राष्ट्र के लिए भी है। एक राष्ट्र के नाते अपनी विशेषताओं को स्थापित करने का आधार क्या होता है? ऐसे प्रश्नों का समाधान इतिहास के प्रकाश में ही हो सकेगा। ध्यान देने योग्य प्रथम बात यह है कि आज कोई नहीं बता सकता कि हमारा राष्ट्र कब जन्मा? वैदिक काल के प्रारंभ का विचार करें - क्योंकि वही ज्ञात इतिहास का आरंभ-बिन्दु है - तब भी पाया जाता है कि हम उस काल में भी राष्ट्र के नाते ही खड़े थे। तथाकथित आर्यवंश के लोग कहीं से यहाँ आये और यहाँ के 'दस्युओं' को जीतकर उन्होंने उत्तर से दक्षिण की ओर अपना प्रभाव बढ़ाया, यह मनगढ़ंत कहानी तो विदेशियों ने हमारे मस्तिष्क में ठूँसी है। इस राष्ट्र की अपनी कुछ आधारभूत मान्यताएँ हैं और वे भी इस जनसमाज में सदा उसके साथ रही हैं। इन मूलभूत धारणाओं के साथ जो-जो विसंगत था, उसे इस समाज ने अस्वीकार किया है। इस भूमि पर जो भी विपरीत हुआ हो, हमारी अपनी मूल पद्धति से हटकर बलात् थोपने का प्रयास हुआ हो, उसे इस राष्ट्र ने कभी अपना या अच्छा नहीं कहा है। इसका अर्थ यही है कि एक चितिरूप मापदंड यहाँ अनादि काल से अस्तित्व में रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीय मानस की यह अद्भुत आंतरिक समानता एक विशाल भूखंड एवं जनसमाज में कृत्रिमता से कोई निर्मित नहीं कर सकता। वह तो स्वाभाविक ही होती है। आत्मा और परमात्मा के संबंध, मानव जीवन का लक्ष्य, उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ चारित्रिक गुणसम्पदा का चयन, ऐसी गुणसम्पदा को प्रत्यक्ष जीवन में उतारने वाले महापुरुषों के प्रति समान श्रद्धा एवं आदर, आदि कितनी ही बातें ऐसी हैं कि जिनके बारे में विविध भारतीय भाषाओं में एक सा मूल्यमापन करने वाली चिंतनधारा देखने को मिलती है। हंस-क्षीर न्याय की इस आंतरिक समानता को देखकर हम क्षणभर के लिए अवाक् रह जाते हैं और सोचने लगते हैं कि अन्ततः इस समानता का आधार क्या है? उसका कब और कैसे निर्माण हुआ? हजारों वर्ष के प्रदीर्घ कालखंड में अनगिनत परिवर्तन होने के बाद भी प्रत्येक बाह्य घटना को अपनी इच्छा के अनुरूप दिशा देने वाली कौन सी आन्तरिक शक्ति है? पं. दीनदयाल जी के मन में भी ऐसी विचारशृंखला तैयार हुई और उन्होंने बताया - 'यह सारा चमत्कार चिति के नाम से पहचानी जाने वाली राष्ट्र की चिरजीवनशक्ति का ही है। राष्ट्रशरीर में इस शक्ति के कार्य को नकारा जा ही नहीं सकता। कोई कृत्रिमता से इस शक्ति का निर्माण भी नहीं कर सकता। इसीलिए कहा जाता है कि राष्ट्र का निर्माण एक क्लब की भाँति नहीं किया जाता। न ही क्लब की भाँति उसे तोड़ा जा सकता है। कुछ करोड़ लोगों ने प्रस्ताव पारित किया, भली-बुरी बातों के लिए कुछ निकष निर्धारित कर दिये और यह निश्चित कर दिया कि वे सभी सदस्यों पर बंधनकारी होंगे, ऐसा राष्ट्र के बारे में नहीं हुआ करता। एक विशिष्ट जनसमूह समान जन्मजात प्रेरणा लेकर अवतीर्ण होता है। जैसे आत्मा शरीर का आलंबन लेता है, राष्ट्र का निर्माण भी उसी प्रकार होता है।''

यूगोस्लाविया का उदाहरण

परिस्थितिवश, हो सकता है इन जनसमूहों को भिन्न-भिन्न शासनों के अधीन रहना पड़ता हो, अथवा भिन्न राष्ट्रीयता वाले अनेक समूह एक ही सत्ता के अधीन रहते हों। इन दिनों यूरोप में यूगोस्लाविया के राष्ट्रीयत्व का प्रश्न बहुचर्चित है। यूगोस्वालिया का उल्लेख 'अनेक राष्ट्रों क समावेश करने वाला देश' (मल्टीनेशनल कंट्री) कहकर किया जाता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह कम्युनिस्ट प्रभुत्व के अधीन देश है। दलीय सिद्धांतधारा के बल पर राष्ट्रभावना को क्षीण करते हुए सामंजस्य एवं सहयोग निर्मित करने का प्रयोग वहाँ अब लगभग विफल हो गया है। यूगोस्लाव गणतंत्र में तीन स्वशासी राष्ट्रों को मान्यता दी गयी है। लेनिन के मत के अनुसार, वर्गसंघर्ष की तुलना में राष्ट्रीय आकाँक्षाएँ गौण ही होनी चाहिए थीं। उसका कहना था कि श्रमिकों को तो, जिसके पास कुछ नहीं, ऐसे वर्ग का विकास ही वास्तव में सर्वोच्च महत्त्व का प्रश्न प्रतीत होता है। वह सब पूर्णतः असत्य सिद्ध हुआ, क्योंकि यूगास्लाविया के स्लाव, सर्व एवं क्रोट नामक जनसमूहों की चितियाँ भिन्न हैं। वह प्राकृतिक है। तानाशाही कम्युनिस्ट शासन भी इन तीन भिन्न चितियों को एकरूप में नहीं कर सका। भारतीय दैशिक शास्त्र का सिद्धांत ही है कि 'एक ही भूमि दो जनसमूहों (राष्ट्रों) का देश नहीं हो सकती। या तो एक जाति अपना पृथक् अस्तित्व त्यागकर दूसरी जाति में पूर्णतः विलीन हो जाये, या उस जाति की भोग्य वस्तु बनकर रहे।' अर्थात् चिति के पूर्णतः नष्ट हो जाने के बाद ही राष्ट्र के अपने स्वत्व त्यागकर दूसरे राष्ट्र के साथ एकरस होने की संभावना हो सकती है। यूगोस्लाविया में यह संभव नहीं हो पाया। वहाँ के रिपब्लिक राष्ट्र के समकक्ष न होने के कारण केन्द्रीय कम्युनिस्ट शासन के लिए प्रचंड तनाव एवं अशांति का सामना करना अपरिहार्य हो जाता है। वहाँ यह भी स्पष्टतः देखा जाता है कि यूगोस्लाविया के बाहर के संलग्न प्रदेशों में विभिन्न चिति वाले जो जनसमूह हैं, उनका यूगोस्लाविया के समान चिति वाले जनों को आकर्षण प्रतीत होता है। उसके कोसोवो प्रांत के 17 लाख इस्लामपंथी अल्बानियाई लोगों की समस्या का समाधान वहाँ का शासन नहीं कर पाया है। यूगोस्लाविया के मुसलमानों में इस्लामी क्रांति की आग धधकाने का प्रयास कुछ गुट कर रहे हैं। ईरान के कट्टरपंथी आंदोलन की भाँति कोई आंदोलन न चल पड़े, इस हेतु यूगोस्लाविया के कम्युनिस्ट शासन को कुछ लोगों की गिरफ्तारी भी करनी पड़ रही है। विजातीय चितियाँ एकरस न हो सकने का ही यह उदाहरण है। संप्रति यूगोस्लाव संविधान में 'द नेशन्स ऑफ यूगोस्लाविया' शब्दप्रयोग है। हमें वह कितना विचित्र प्रतीत होता है। आधुनिक संसार में कृत्रिम शासनसत्ता की सर्वंकषता और चिति से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभावित राष्ट्रीयत्व में आज संघर्ष चल रहा है। आर्थिक दर्शन के सहारे उसका निराकरण होता दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। यूगोस्लाविया का उदाहरण इसलिए दिया है कि वहाँ यही सब हो रहा है। यूगोस्लाविया ने एक सत्य का भी, कि भौतिक स्वार्थ द्वारा एकराष्ट्रीयत्व की भावना उत्पन्न नहीं की जा सकती, साक्षात्कार कराया है।

हिन्दू राष्ट्र की धर्मरूप चिति

हम जिन्हें भारत की राष्ट्रीय विशेषताओं के रूप में स्वीकार करते हैं, वे सब राष्ट्र की चितिरूप आत्मा अथवा चेतनता की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। इस चिति के प्रभाव के कारण ही हम मन में राष्ट्र के समान परंपरा वाले समस्त जनसमाज के प्रति ममत्व की भावना जागती है, आर्थिक स्वार्थों के कारण नहीं। चिति की अभिव्यक्ति ही उस शक्ति के अस्तित्व का प्रमाण है। विद्युत् धारा आँखों से कहाँ दिखाई देती है? किन्तु उसका एक अदृश्य प्रवाह होता है, जिसके कारण दीप जलते हैं और नाना प्रकार के काम किये जा सकते हैं। हम मानकर चलते हैं कि वह सब विद्युत् के प्रवाह की दृश्य अभिव्यक्ति है। यही बात चिति के साक्षात्कार पर भी लागू करनी चाहिए। वे कौन से निकष थे जिनपर हमारे राष्ट्रीय महापुरुष महान सिद्ध हुए? हमारी संस्कृति का विकास विशिष्ट दिशा में ही क्यों हुआ? यहाँ युद्ध क्यों हुए? संघर्ष का सच्चा निमित्त क्या था? व्यक्तिगत चरित्र के सर्वमान्य मापदंड क्या हैं? भारतीयों ने दूसरे देशों पर सैनिक आक्रमण क्यों नहीं किये? ऐसे नाना प्रकार के प्रश्नों के उत्तर अन्ततः राष्ट्रीय चिति से ही जुड़े हुए पाये जाते हैं। चिति स्वभाव है और उसी में सुखानुभूति होती है। भारत-चिति के अनुरूप ही इस भारतभूमि के पुत्रों का राष्ट्रीय व्यवहार रहा है। इतिहास के पृष्ठों पर सहज दृष्टि दौड़ाने पर भी यह बात स्पष्ट हो जायेगी और हमारा राष्ट्रीय स्वभाव क्या है, इसका बोध भी हो जायेगा।

रामायण-महाभारत हमारे राष्ट्रीय ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों के बारे में लोकमान्य तिलक ने कहा था - 'सर्वत्र रामायण और महाभारत की कथाएँ, उपकथाएँ और आख्यान लोगों में समान प्रिय हैं और उनके श्रवण से मन में एक सी भावना और विचार जाग्रत होते हैं। भारतभूमि के राष्ट्रीय एकत्व का साक्ष्य इससे मिलता है। महाभारत राष्ट्रीय ग्रंथ है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह आधार छूट जाता तो राष्ट्र की आगे हुए प्रगति को जो विशिष्टता प्राप्त हुई वह न हुई होती। यही बड़े-बड़े विद्वानों की मान्यता है।' इसका अर्थ यही है कि हिन्दू राष्ट्र का प्राकृतिक स्वभाव एक है और उस पर ही राष्ट्रीय एकता एवं एकता की निरंतरता निर्भर है। रावण वैभव सम्पन्न था। कहते हैं कि उसकी लंका सोने की थी। जन्म उसका ब्राह्मण कुल में हुआ था। शंकर का उपासक था। प्रभुता की आकाँक्षा लिये था। बलशाली भी था। किन्तु भारत में रावण को कोई अच्छा नहीं कहता। गुणगान यहाँ रामचन्द्र का होता है। विभीषण ने रावण का पक्ष त्याग दिया तो एक प्रकार से बंधुद्रोह, स्वजनद्रोह और देशद्रोह किया। आधुनिक परिभाषा में तो उसे 'क्विसलिंग' ठहराया जाना चाहिए। किन्तु उसे कोई भी बुरा नहीं कहता। प्रत्युत् प्रभु रामचंद्रजी की विजय में सहायक और रामभक्त बनने के लिए उसका सर्वत्र गौरव ही किया जाता है। उसे परम भगवतों में स्थान मिल गया है। महाभारत-कथा में भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मामा कंस का वध किया। पांडवों को विजय दिलाने के लिए कई बार कूटनीति से काम लिया। जयद्रथ-वध, द्रोण-वध, जरासंध-वध, कर्ण-वध, दुर्योधन-वध सीधे ढंग से नहीं हुए। किन्तु फिर भी श्रीकृष्ण को हिन्दू राष्ट्र योगेश्वर मानता है, जगद्गुरु समझता है। उनकी गीता को सिर-आँखों पर लिये नाचता है। धर्मराज युधिष्ठिर हमें प्रिय है और दुर्योधन त्याज्य है। पितृभक्त राम प्रिय हैं और पिता की आज्ञा न मानने वाला भक्त प्रहलाद महाभागवत के नाते हमारे लिए श्रद्धेय है! दैवी सम्पदा में अहिंसा का उल्लेख वरीयता से करने वाले भगवान ने अर्जुन को युद्ध के लिए प्रवृत्त करने के लिए गीता का उपदेश दिया। प्रचंड नरसंहार को भी धर्मसम्मत बताया। हमारे समूचे राष्ट्र को पांडव अपने और कौरव त्याज्य लगते हैं। उन्मत्त वेन राजा का वध करने वाले ऋषि हमारे मानस में निर्लिप्त ही होते हैं। राम द्वारा सीता का त्याग किये जाने की कथा (क्षेपक) प्रचलित होते हुए भी एक राजा के नाते राम की योग्यता हमारे विचार में बढ़ ही जाती है। आज भी रामराज्य को एक आदर्श राष्ट्रानुकूल शासन-व्यवस्था के रूप में मानदंड माना जाता है। यह सब आंतरिक साधर्म्य चिति के कारण ही है।

आधुनिक काल में भी छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप, सिख गुरु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा मुगल सत्ता से जूझे स्वत्वसंपन्न पराक्रमी पुरुषों की परंपरा हमको राष्ट्रीय प्रतीत होती है। हिन्दवी स्वराज्य पर संकट लाने वाले राजा जयसिंह के प्रति हमारे मन में स्वाभाविक विरोध की भावना जाग जाती है। परतंत्रता के काल में भी जिन साधुसंतों ने अध्यात्मज्ञान का प्रकाश फैलाने का कार्य किया, उनके प्रति हमारे मन में पूज्यभाव है। इन महात्माओं के चित्र हमारे घर-घर में पाये जाते हैं। भौतिक क्षेत्र में केवल ऐश्वर्य प्राप्त कर चुके लक्ष्मीपुत्रों के चित्र घरों में लगाने की प्रथा हमारे यहाँ नहीं है। तो क्या इन सभी महापुरुषों द्वारा किये गये कार्यों तथा उनके जीवन में विविध प्रसंगों के प्रति हमारे मन में बसने वाली यह भावना किन्हीं आर्थिक या राजनीतिक कारणों से हैं? क्या यह केवल ऐहिक समाजविचार है? नहीं, ऐसा नहीं दिखाई देता। रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, रमण महर्षि, महायोगी अरविंद, स्वामी दयानंद, स्वामी रामतीर्थ आदि लोगों का जीवनकार्य आर्थिक या राजनीतिक था ही नहीं। हमारे भारतीय जनजीवन में लोगों का स्वत्व राजनीति या अर्थनीति के साथ कभी बाँधा नहीं गया। राजा जनक के अन्न और वस्त्र की चिंता किये बिना अर्धनग्न रहने वाले संन्यासी के बारे में समान पूज्यभाव रखते समय, आंतरिक सूत्र कुछ अद्‌भुत ही होता है। वही हमारी चिति का स्वरूप है और हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व का प्रयोजन भी। हमारा उत्थान और पतन उसी के साथ निगड़ित है। ऊपर हमने कुछ उदाहरण दिये हैं कि किन जीवनों, प्रसंगों तथा प्रवृत्तियों को हमारी राष्ट्रीय चिति ने श्रेष्ठ, अनुकरणीय, संस्मरणीय एवं प्रेरणादायी माना है। और हमारी संस्कृति ने स्वाभाविकता से उन्हें स्वीकारा है। उनमें से कोई भी उदाहरण लें, तो प्रमुख सूत्र यही दिखाई देता है कि यहाँ जो धर्म के लिए है उसे प्रिय तथा जो अधर्म के लिए है उसे निषिद्ध माना गया है।

महायोगी अरविंद का मंत्र

यही हमारी चिति का प्राकृत, ईश्वरप्रदत्त एवं स्वयंभू स्वरूप है। भारत के सारे जीवनप्रवाह की यही दिशा है। धर्म के उत्थान में ही उसका सुख और धर्मग्लानि में उसे भी ग्लानि होती है। परमात्मा ने अपने अवतार का प्रयोजन बताते समय यही कहा है - 'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।' कुरूक्षेत्र में इस अवतारकार्य की दुहाई स्वयं भगवान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने ही दी है। राम का पक्ष धर्म का और रावण का अधर्म का, पांडवों का धर्म का तथा कौरवों का अधर्म का, राणा प्रताप का धर्म का और अकबर का अधर्म का, शिवाजी का पक्ष धर्म का और औरंगजेब का अधर्म का, तिलक-गांधी का पक्ष धर्म का और अंग्रेजों का पक्ष अधर्म का, यही राष्ट्र की आत्मा का निष्कर्ष है। हमारी चिति ही धर्मरूप है। धर्मप्रेम हिन्दू राष्ट्र का स्वभाव है। संसार में धर्मध्वजा को फहराये रखना, इस राष्ट्र के निर्माण तथा अस्तित्व का मूल ईश्वरीय प्रयोजन है। बुद्धिवाद या तथाकथित प्रगतिशीलता के अहंकार के द्वारा हिन्दू राष्ट्र को कदापि धर्म के विरुद्ध नहीं ले जाया जा सकता। यदि हम चितिरूप धर्म अर्थात् अपनी मूलभूत चेतनाशक्ति को त्याग देते हैं, तो हमारे जीवन का स्वरूप ही समाप्त हो जायेगा। पं. दीनदयाल जी के इस चितिविषयक सारे विवेचन का अपरिहार्य निष्कर्ष यही है कि हिन्दू राष्ट्र धर्म के साथ ही जीवमान रह सकता है। पहले यही सत्य श्री अरविंद ने अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के नाते उत्तरपाड़ा के एक भाषण में जनता के सामने रखा था। श्री अरविंद ने कहा था - 'राष्ट्रोत्थान का हमारा आंदोलन राजनीतिक नहीं, धार्मिक है। हमारा राष्ट्रीत्व कोई राजनीति नहीं, यह हमारी श्रद्धा है।, उपासना है। सनातन धर्म ही हमारा राष्ट्रीयत्व है। इस हिन्दू राष्ट्र का जन्म सनातन धर्म के साथ ही हुआ है। ये दोनों अभिन्न हैं। उसकी गति और विकास एक ही है। जब-जब सनातन धर्म नष्ट होने की संभावना हो, तो पक्का जान लीजिए कि फिर से राष्ट्र भी नष्ट हो जायेगा। मैं पुनः एक बार प्रकट रूप से कहता हूँ कि सनातन धर्म ही राष्ट्रीयत्व है। यही मंत्र मुझे भगवान से प्राप्त हुआ है।'' बिल्कुल महर्षि व्यास से लेकर आज तक यह धर्मसूत्र विद्यमान है। स्वामी विवेकानंद कहा करते थे कि हमारे यहाँ कई कहानियाँ हैं जिनमें कहा गया है कि किसी के प्राण धर्म में है। पाशवी अत्याचारों से भारत कभी मरने वाला नहीं है। धर्म से हट जाने पर ही उसकी मृत्यु हो सकेगी। तब हमारे देश की अवस्था उस कलेवर जैसी हो जायेगी जिसके भीतर से जीवात्मा उड़ गयी हो। ऐसा न हो, इसी हेतु यहाँ बार-बार महापुरुष एवं साक्षात् भगवान भी अवतार लेते रहे हैं।

○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8

सुखानुभूति का मार्ग

धर्म 'रिलीजन' या उपासना-पंथ नहीं है, पं. दीनदयाल जी के इस प्रतिपादन का उल्लेख पहले हम कर चुके हैं। आजकल सेक्यूलरिज्म के लुभावने नाम पर व्यक्त किये जाने वाले विचारों को, कि धर्म केवल व्यक्तिगत विषय है या राष्ट्र और समाज से धर्म का कोई संबंध नहीं है, उन्होंने पूर्णतः अस्वीकार कर दिया था। 'धर्म' शब्द का अर्थ अत्यंत व्यापक है और वह शब्द सुनते ही संपूर्ण भारतवर्ष के कोटि-कोटि लोगों के मानस में एक सी भावनाएँ जागती हैं। उन भावनाओं में से ही धर्म शब्द का सच्चा अर्थ ज्ञात होता है। धर्म ही भारत की चिति है और उसमें प्रवाहित आंतरिक चेतना भी। यह थी पं. दीनदयाल जी के विचारों की भावात्मक भूमिका। उसकी सत्यता हिन्दू समाज की जीवन-पद्धति एवं सांस्कृतिक मूल्य-व्यवस्था से सहज सिद्ध होती है। इस जीवन-पद्धति, जीवन-दृष्टि एवं मूल्य-व्यवस्था में ही हिन्दू राष्ट्र की अनन्यता समायी है। जात-पाँत, पंथ-प्रांत, खानपान, बोली-भाषा, आदि सभी बातों की स्थानीय विशेषताओं को लाँघ जाने वाला एक समान जीवनलक्ष्य हिन्दू लोगों के सम्मुख हो, तो वह क्या हो सकता है? इसमें संदेह नहीं कि ऐसा जीवनलक्ष्य हमारे समाज के सामने है। विशाल राजनीतिक साम्राज्य निर्मित करने और सैनिक दृष्टि से विश्वविजेता बनने का लक्ष्य वह कदापि नहीं। सारे संसार का शोषण करते हुए भारत में भौतिक सम्पत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अंबार लगानें और उसका मनमाना भोग करने का भी वह लक्ष्य नहीं है। इस प्रकार का कोई भी ऐहिक एवं स्थूल लक्ष्य भारत ने अपने सामने नहीं रखा है। उसके लिए सिकंदर, चंगेज खान और गजनवी की भाँति दूसरों का रक्त बहाने या उत्पीड़न करने का प्रयास हिन्दुओं ने कभी नहीं किया है। प्रत्युत् उत्पीड़ित एवं आक्रमण के शिकार बने समाजों (उदाहरणार्थ पारसी और यहूदी) को यहाँ सादर प्रश्रय दिया गया है। यह तो हिन्दुओं के सामूहिक स्वभाव का ही एक अंग है। हिन्दुओं के प्रकृतिदत्त सामूहिक स्वभाव या चिति को पाशविक आक्रामकता का परहेज होने के कारण परानुकरणपूर्वक उसका यहाँ अंगीकार होना असंभव ही है। यहाँ की दिव्य संस्कृतिधारा में राष्ट्रीय चिति के लिए प्रतिकूल दानवी प्रवृत्तियों का समावेश संभव ही नहीं है। भारतीय राष्ट्रशरीर की दृष्टि से वह बाहरी तत्त्व (फॉरेन एलीमेंट) होता है। तो फिर हमारा राष्ट्रीय जीवनलक्ष्य क्या है?

इस संबंध में इतिहास का सिंहावलोकन करने वाले सभी विचारकों एवं अध्ययनकर्ताओं की मान्यता है कि हिन्दुओं का जीवनलक्ष्य है आत्मदर्शन एवं उससे प्राप्त होने वाले अखंड अविच्छिन्न एवं घनीभूत सुख की प्राप्ति। यहाँ की सारी रचनाओं, व्यवस्थाओं, क्रियाकलापों, कलाओं, विद्याओं आदि की यही एकमात्र दिशा प्राचीन काल से रही है। व्यक्तिगत जीवन में भी रही दिशा में प्रगति करने के लिए अनुकूलता की आशा-अपेक्षा हिंदू करता रहता है। आखिर जीविका चलाने की सुविधाएँ किसलिए चाहिए।? उसमें निरापदता हो, ऐसी इच्छा क्यों रहती है? किस शासन को अच्छा कहा जा सकता है? ऐसे नाना प्रकार के प्रश्नों के उत्तरों का केंद्र-बिंदु अध्यात्म या धर्म ही आप पायेंगे। करोड़ों भारतीयों को देश के एक सिरे से दूसरे तक इसी जीवनलक्ष्य और उसके लिए अनुसरणीय जीवपद्धति ने एकत्र बाँधे रखा है। प्रत्येक के जीवन की प्रत्येक सीढ़ी पर और प्रत्येक क्षेत्र में धर्म अवश्य होता है। धर्म का यह अस्तित्व इतना व्यापक है कि धर्म के बिना जीवन की कल्पना करना भी असंभव है। यही हिन्दू राष्ट्र की चिति अर्थात् भले-बुरे का निर्णायक निकष है। आत्मदर्शन या मोक्ष प्राप्त करना और शाश्वत सुख का धनी बनना युग-युग से इस राष्ट्र का लक्ष्य रहा है। ऐसे सब लोग, जिन्होंने इस लक्ष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्रतिष्ठित रखने का प्रयास किया और किसी न किसी क्षेत्र में धर्मरक्षण के लिए कष्ट उठाये, त्याग किया, हमारी दृष्टि में धार्मिक एवं पूजनीय हो गये। तपस्या द्वारा मुक्ति प्राप्त करने वाला यहाँ के हिन्दू को चक्रवर्ती सम्राट् से भी महान् प्रतीत हुआ। ऐसे साक्षात्कारी या परमहंस अवस्था में पहुँचे सत्पुरुष के चरणों में चक्रवर्ती सम्राट् भी साष्टांग प्रणाम करता है। उसे उच्च आसन पर विराजमान करता है। उसकी पादपूजा करने में अपने आपको धन्य मानता है। यह राष्ट्रीय चिति की प्रेरणा होती है। जो होता है, उसमें कोई कृत्रिमता नहीं होती। हम कई बार गायन, नृत्य, चित्र, शिल्प आदि कलाओं के संबंध में 'समाधि' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्दप्रयोग में यही मान्यता होती है कि इन कलाओं द्वारा भी परमतत्त्व की अनुभूति प्राप्त हो सकती है।

हिन्दुस्थान का अध्ययन करते समय इस चिति के प्रकाश में यहाँ के जीवन को देखने का कोई संभ्रम नहीं रहता। अनेक अपने तथा पराये अन्वेषक संभ्रम में पड़कर भटके एवं विपर्यस्त निष्कर्ष इसलिए निकालते हैं कि इस चिति का संदर्भ उन्होंने छोड़ दिया होता है। बाह्यतः सामान्य प्रतीत होने वाली बातें होती हैं। एक स्थान पर एक बात अच्छी सिद्ध होती है तो दूसरे स्थान पर उसके ठीक विरुद्ध बात भी अच्छी सिद्ध होती है। समान बातें भी भिन्न समयों में भली या बुरी हो जाती हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध आदि का विचार धर्म के संदर्भ में किया जाये, तो रामचरित्र अथवा अवतार पुरुषों के लीला-चरित्रों में कई अन्तर्विरोध प्रतीत नहीं होता। और, धर्म का संदर्भ भी अन्ततः होता क्या है? व्यष्टि-व्यष्टि के अभ्युदय-निःश्रेयसात्मक चरितार्थ सुचारु रूप से चलाने के लिए अनुकूलता बनाये रखना। उसी प्रकार विपरीत आसुरी प्रवृत्तियों का नियंत्रण करना भी धर्मस्थापना का कार्य होता है। कृष्ण ने कंस का वध क्या इसलिए किया था कि स्वयं को राज मिले? वेन राजा का वध करने के लिए ऋषियों ने क्या सिंहासन की अभिलाषा रखी थी? प्रभु रामचंद्र जी ने सीता का परित्याग किया तो उसमें क्या उनके व्यक्तिगत हित का कोई प्रश्न निहित था? क्या रावण का वध करने के बाद उन्होंने लंका की सत्ता का लोभ कभी रखा था? हिन्दू राष्ट्र की चिति इस निःस्वार्थता, अनासक्ति, असुरदमन और लोकसंग्रहात्मक कर्म को देवत्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सीढ़ी पर ले जाती है। हमारी संतपरंपरा इसीलिए हमारे राष्ट्रीय गौरव का विषय बन जाती है।

धर्मव्याप्त जीवन

चिति के प्रकाश को व्यक्ति-व्यक्ति तक धर्मरूप में पहुँचाने की व्यवस्था यहाँ थी। कुछ मात्रा में आज भी वह विद्यमान है। हिन्दू परिवार एवं हिन्दू व्यक्ति के जीवन में 'पदे-पदे' धर्म को गूँथ दिया गया है। प्रातः काल सोकर उठने से लेकर रात फिर सोने तक के खाने-पीने, उठने-बैठने, नित्यकर्म करने आदि सभी कामों में धर्म है। यह नहीं कि प्रत्येक मनुष्य विज्ञान एवं तत्त्वज्ञान का विचार कर इस धर्म का पालन करता है। आँगन में तुलसी का पौधा लगाना, उसका पूजन करना, उसकी परिक्रमा करना आदि बातों का संबंध धर्म के साथ जुड़ा है। तुलसी के रोग-निवारक गुणों का ज्ञान अवश्य हो। रोग-निवारण के लिए तुलसी का उपयोग भी अवश्य करें। किन्तु धर्म के साथ नाता जोड़ने के कारण तुलसी हमारे लिए केवल उपयोगी वनस्पति न रहकर एक पवित्र वस्तु बन गयी है। गाय को हम गोमाता कहते हैं। गाय का दूध, गोमूत्र आदि पंचगव्य के वैद्यकीय गुणों पर आज विदेशों में अनुसंधान किया जा रहा है। गाय की उपादेयता निर्विवाद सिद्ध हो गयी है। किन्तु गोमाता कहते ही हमारे मन में गाय नामक केवल एक उपयोगी पशु का ही भाव नहीं जगाता। सामान्यतः प्रत्येक हिंदू के मन में उसके प्रति पूज्यभाव पाया जाता है। उसे गोपूजा अपना धर्म प्रतीत होता है। हम दिनभर जो व्यवहार करते हैं, उनका भी एक धर्म होता है। सेवकधर्म, पतिधर्म, पत्नीधर्म, पुत्रधर्म, स्वामीधर्म, पड़ोसीधर्म आदि नाना व्यवहार धर्म होते हैं। इसका अर्थ यही है कि हमारे जीवन में जीवनलक्ष्य के अनुकूल कर्तव्यों एवं नीतिनियमों की एक आनंददायी तथा सुसंवादी रचना धर्मरूप में विद्यमान है। यह कर्तव्यबोध है, अधिकारबोध नहीं है। समाजधारणात्मक धर्म प्रधानतः कर्तव्यरूप ही होता है। भोजन भी केवल जीभ का लालच पूरा करने के लिए भूखे फटीचर की भाँति नहीं खाना चाहिए, ऐसा हमारे यहाँ कहा गया है। काया धर्म के लिए मिली होती है और उस काया को धर्मकार्य के लिए सक्षम रखने हेतु अन्नग्रहण करना होता है। अतः भोजन भी एक यज्ञकर्म ही है। भोग के लिए काया, यह भाव हमारे यहाँ नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। भगवान के कार्य के लिए काया है, यह भाव हमारे यहाँ मान्य है। नित्य-जीवन की सीमाओं एवं कार्य की प्रेरणाओं के ऐसे बीसियों उदाहरण दिये जा सकते हैं। धर्म की छत्र-छाया में इन सभी व्यवहारों का अंतिम उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज को आत्मसाक्षात्कारस्वरूप शाश्वत सुख की प्राप्ति करा देना ही होता है।

काया घिसती देवकाजहित।
वाचा बोले रामनाम नित।।
चले सदा सत् स्वधर्मपथ में।
सर्वोत्तम वह धन्य जगत् में।।

समर्थ रामदास स्वामी के 'मनोबोध' की इन पंक्तियों में हिन्दू जीवनक्रम का सूत्र साररूप में अंकित है। अपने राष्ट्र के सर्वव्यापी तत्त्व को नकारने से काम नहीं चलता, प्रत्युत् ऐसा करने से हानि ही होती है। राष्ट्रीय चिति का यह बोध, हिन्दुओं में अपने ओजस्वी शब्दों द्वारा स्वाभिमान तथा आत्मविश्वास का स्फुलिंग जगाने वाले स्वामी विवेकानंद में भली-भाँति जाग्रत था। उन्होंने यह चेतावनी दी थी कि भारत के स्वभावसिद्ध धर्म से दूर जाने पर हमारा जीवन तार-तार हो जायेगा। यह चेतावनी दैशिक शास्त्र के अनुसार ही थी। हिन्दुस्थान के इस स्वभाव का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है - ''हिन्दू कहता है राजनीतिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता अवश्य चाहिए। किन्तु सच्चा मूल्य आध्यात्मिक स्वतंत्रता अर्थात् मुक्ति का है। यही हमारा राष्ट्रीय जीवनलक्ष्य है... हमने देखा कि हमारा सारा उत्साह, हमारी शक्ति एवं हमारा राष्ट्रीय प्राणतत्त्व हमारे धर्म में है। यह सही है या गलत, इसमें मैं इस समय नहीं जाना चाहता। इस विवाद में भी मैं अभी पड़ना नहीं चाहता कि हमारा शक्तिस्रोत धर्म में होना अंततः हमारे लाभ का है या हानि का। भली-बुरी जैसी भी हो, यह एक वास्तविकता है और सदा ही रहती आयी है। उसे गृहीत मानकर ही आपको जो भी करना है, करना चाहिए। फिर अपने धर्म में आपको मेरी जितनी श्रद्धा न भी हो, तब भी इस वास्तविकता से आप बचकर भाग नहीं सकते। आप इस सत्य से जुड़े हैं और उसको छोड़ देने से आपका सर्वनाश हो जायेगा। हमारे राष्ट्र की जीवनशक्ति यही है और हमें उसे पुष्ट करना चाहिए।''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारत के सभी लोग व्यवहार में राष्ट्रीय चिति से प्रामाणिक रहकर आचरण करते हैं। धर्म को न मानने वाले तथा अर्थसंग से दूषित लोग सर्वत्र पाये जायेंगे। किन्तु एक रोचक बात यह है कि चितिविरोधी जीवन जीने वालों को समाज अच्छा नहीं मानता। दूषित व्यवहार करने वाले के मन में भी 'पाप' करने का बोध कहीं कोने में अवश्य छिपा होता है। अपना जीवन निर्दोष एवं पुण्यशील न भी हो, तब भी सदाचरण के मापदण्ड दुराचारी व्यक्ति सहित सभी को मान्य रहते हैं। कहीं वैसा आदर्श दिखाई दे, तो उसके सामने नतमस्तक होने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। यही कारण है कि नैतिक सामर्थ्य प्रभावी सिद्ध होता है। भारत की विशिष्ट चिति के कारण ही यहाँ सार्वजनिक जीवन में भी व्यक्तिगत चरित्र का बड़ा महत्त्व होता है। जो नेता लोगों को कोरा उपदेश देता है और स्वयं कहे अनुसार आचरण नहीं करता, उसके शब्द का प्रभाव लोगों पर नहीं पड़ता। सभी क्षेत्रों में यह बात पायी जाती है। चिति के प्रकाश से प्रकाशमान जीवन जीने वाले लोगों की संख्या कम होते जाना राष्ट्रीय चिति के क्षीण होने का लक्षण होता है। हिन्दुस्थान के इतिहास में हमें पता है कि जब-जब देश में आध्यात्मिक जागरण की लहर उठी, तब यहाँ भौतिक जीवन में भी महान् कर्तृत्वशाली लोगों की भरमार रही और भौतिक अभ्युत्थान संपन्न हुआ। राष्ट्र बलशाली बना और उसकी प्रतिभा की गगनस्पर्शी अभिव्यक्ति जीवन के सभी क्षेत्रों में हुई। पं. दीनदयाल जी का नाम देश में सुपरिचित होने से पूर्व उन्होंने श्रीमत् आद्य शंकराचार्य की एक संक्षिप्त जीवनी लिखी थी। यह हिन्दी में लिखी पुस्तक बहुत ही सरस एवं पंडित जी के राष्ट्रचिंतन को प्रारंभ में ही प्राप्त दिशा को सूचित करने वाली है। पुस्तक की प्रस्तावना में भारत के स्वर्णयुग का अत्यंत रम्य चित्रण है। उस युग की विशेषताओं के बारे में पं. दीनदयाल जी ने लिखा है - 'विनाशात्मक भावना के बजाय तत्कालीन नेतृत्व ने अपने रचनात्मक कार्यक्रम के बल पर अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों के स्थान पर यहाँ राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का उदय करवाया। यही कारण है कि उस काल में हमारे यहाँ अपने परंपराप्राप्त राष्ट्रीय वैदिक धर्म का नाश करने के प्रयास नहीं पाये जाते। राष्ट्रीयता का प्रखर प्रकाश चारों ओर फैलाने के प्रयास अवश्य हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और परिणामतः अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का अँधेरा अपने आप नष्ट हो गया। इस राष्ट्रीयता की ज्वाला के प्रकाश को प्रखरतम बनाने के लिए साधु, संन्यासी, कवि, कलाकार, पुराणकार, सूत एवं स्मृतिकार, मुनि, दार्शनिक, अनेक ऋषि-महर्षि एवं भक्ति की सौंदर्यमयी धारा को प्रवाहित करने वाले संत-महंत, फिर से अश्वमेध कर भारत की चारों दिशाओं को व्यापने वाला साम्राज्य स्थापित करने वाले दिग्विजयी सम्राट् एवं भारत की आध्यात्मिक व सांस्कृतिक एकता को राजनीति द्वारा पुष्ट बनाने वाले राजनीतिज्ञ, नीतिकार, शिल्पी एवं व्यापारी, सभी में मानो स्पर्धा सी लगी थी। ये सबके सब अहमहमिका से आगे बढ़कर राष्ट्र की वृद्धिगत शक्ति को जीवनसर्वस्व अर्पण करने के लिए उस काल में उत्कंठित दिखाई देते थे। राष्ट्रीयता की यह भावना केवल इने गिने तत्त्वज्ञों एवं विचारकों तक ही सीमित नहीं रही, अपितु सारी जनता ही इस भावना से ओतप्रोत हो गयी थी। इसीलिए उस युग में हमें एक अपूर्व कर्मचेतना दिखाई देती है।'

कर्मचेतना का मूल

पंडित जी आगे लिखते हैं - ''यह नहीं कि उन दिनों स्थापित बड़े-बड़े साम्राज्यों, अपार धनसम्पदा, अतुलनीय वैभव, मनोरम कला और उच्च कोटि के साहित्य आदि के कारण ही हम उस युग को स्वर्णयुग मानते हैं। आज तो उसमें से कुछ भी हमारे पास नहीं है। बड़े-बड़े साम्राज्य नष्ट हो गये हैं। अपार धनसम्पदा समाप्त हो गयी है। वैभव का लोप हो गया है और कला तथा साहित्य कुछ ही विद्वानों के अनुसंधान एवं मनोरंजन की सामग्री बनकर रह गये हैं। सच कहा जाय तो हमारी एक राष्ट्रीयता की अवधारणा और उस अवधारणा को मूर्त स्वरूप देने वाली संस्कार-योजना ही उस युग की अक्षय देन है। वैसे, हमारी राष्ट्र की अवधारणा वैदिक काल से चली आ रही है।' पं. दीनदयाल जी ने शंकराचार्य का वर्णन करते हुए लिखा है - 'वे तो हिन्दू धर्म की समन्वयात्मक वृत्ति का ज्वलंत उदाहरण और हजारों वर्ष पूर्व स्थापित किन्तु उस समय से निरंतर बढ़ते आये वैदिकधर्मरूपी अक्षयवट का पुण्य-फल थे। अतः स्पष्ट है कि कर्मचेतना धर्म के लिए, धर्म के कारण उत्पन्न हुई। उसी राष्ट्रीय चिति का प्रकाश फैला और भौतिक जीवन भी तदनुसार विकसित हुआ। छत्रपति शिवाजी के युगप्रवर्तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्तृत्व की पृष्ठभूमि भी धर्मरूप चिति के जागरण की ही है। ज्ञानेश्वर से लेकर समर्थ रामदास तक के संतों द्वारा की गयी आध्यात्मिक जागृति का फल शिवाजी महाराज के रूप में भौतिक जीवन में प्रकट हुआ। इस चेतना का प्रभाव आगे के डेढ़ सौ वर्ष तक रहा। इस्लामी साम्राज्य का प्रचंड प्रासाद इस चेतनाशक्ति की धड़क से धराशायी हो गया। ब्रिटिश सत्ता के काल में भी स्वाधीनता-आंदालेन को रामकृष्ण, विवेकानंद, दयानंद, अरविंद एवं आध्यात्मिक जागृति के अन्य अनेक नेताओं द्वारा दिये गये आध्यात्मिक उपदेशों के कारण ही तेज प्राप्त हुआ, अन्यथा क्रांतिकारियों की गुफाओं में विवेकानंद के चित्र और ग्रंथ मिलने का क्या कारण हो सकता था? लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी को प्राप्त जनसमर्थन का पर्याप्त विश्लेषण किया जा चुका है। किन्तु एक सत्य यह है कि जन सामान्य की दृष्टि में ये दोनों धर्मपुरुष थे। दोनों ने अपना सारा प्रचार जनता का धर्म, हिन्दू परंपरा की परिभाषा और इतिहास के आदर्शों जैसे लोगों की समझ में तुरंत आने वाले मार्गों से ही किया था। राष्ट्रीय चिति की जागृति एवं प्रखरता ही अंत में दुर्दम्य एवं विजिगीषु कर्मचेतना में परिणत होती है।

आज के युग में भी वही संस्कृति हमारे हृदय में जाग्रत हो रही है। 'हिन्दू' शब्द के उच्चारण के साथ ही एक हिन्दू का दूसरे हिन्दू से रक्त की बूँद-बूँद का तादात्म्य हो जाता है। इसी अखंड राष्ट्रीयता का आह्वान हमें फिर से करना चाहिए और सिंधु से ब्रह्मपुत्र तक एवं सेतुबंध से हिमालय की सभी उपत्यकाओं तक फैली मातृभूमि को गौरव एवं स्वाभिमान प्राप्त करा देने के लिए त्यागपूर्ण तथा कर्मशील पूर्वजों की परंपरा अंगीकार करनी चाहिए। यही है पं. दीनदयाल जी का राष्ट्रीय 'चिति' के शास्त्र-शुद्ध सिद्धांत पर आधारित आह्वान। राष्ट्र की पतनोन्मुखता को रोककर आध्यात्मिक गुणवत्ता पर आधारित दुर्दम्य विजयाकाँक्षा जगाने का यही इतिहाससिद्ध मार्ग है, यह बात उन्होंने अत्यंत लगन से अपने देशबांधवों को बतायी है। हमारे भारतवर्ष के बारे में गौरव की बात यह है कि प्रकृति द्वारा इस राष्ट्र को दिया गया स्वभाव एवं जन्मजात लक्ष्य मूलतः दैवी है, आसुरी नहीं। दैवी चिति वाले राष्ट्र में सात्विक संकल्प, विश्वात्मक बुद्धि और प्रदीर्घ जीवन की क्षमता होती है। श्रेष्ठ चरित्रगुणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अभिव्यक्ति इस दैवी चिति से ही होती है। भारत की जितनी भी विशेषताएँ आज हम बताते हैं, सब इस दैवी चिति की ही अलभ्य देन के कारण हमें मिली हैं। शास्त्रकारों की मान्यता है कि दैवी चिति क्षीण हो जाये, और राष्ट्र की अवनत दशा आ जाये, तब भी ऐसे राष्ट्र में तितिक्षा एवं आत्मरक्षा का सामर्थ्य अवश्य रहता है। समृद्धि हो या विपदा, दैवी चिति उतने से मलीन नहीं हो जाती। विजातीय चिति का दूषित प्रभाव एक सीमा के पार नहीं जा सकता। विपत्तिकाल में भी चिति के शुद्ध संस्कार अंतर्लीन होकर बने रहते हैं, और अवसर मिलते ही फिर से उछलकर सारे राष्ट्र को व्यापते हैं। ऐसे दैवी चितिसंपन्न राष्ट्र की आवश्यकता प्रकृतिमाता को बार-बार प्रतीत होती है। भारत ही बार-बार धर्मसंस्थापना करेगा, इसका अर्थ यही है। देशभक्तों को चिति जगाने का काम करना पड़ता है। भारत की चिति के स्फुलिंग को प्रज्वलित करें तो उत्थान अवश्यमेव होकर रहेगा। इसी एकमेव कार्य के लिए पं. दीनदयालजी जीवनभर चन्दन की भाँति अपने आपको गलाते रहे और अंत में किसी भारतशत्रु के क्रूर कुटिल आघात के शिकार हो गये, यह बात उनके चरित्र से सहज ध्यान में आती है।

विराट्रूप प्राणशक्ति

चिति राष्ट्र की आत्मस्वरूपिणी शक्ति होती है। उसी प्रकार इस शक्ति की अनुगामिनी एक और शक्ति भी होती है। उस शक्ति को दैशिक शास्त्र में 'विराट' की संज्ञा दी गयी है। पं. दीनदयाल जी ने इस संज्ञा का भी प्रयोग किया है। अतः इस शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द 'विराट्' का विवरण पहले पंडित जी के ही शब्दों में जान लेना उचित होगा। उन्होंने कहा है- ''जब तक चिति जाग्रत एवं शुद्ध रहती है, राष्ट्र का अभ्युदय बराबर होता रहता है। इसी चेतना के आधार पर राष्ट्र संगठित होता है। चिति द्वारा जाग्रत एवं एकात्म बनी समष्टि की प्राकृतिक क्षात्रशक्ति अर्थात् किसी भी अनिष्ट से राष्ट्र की रक्षा करने वाली शक्ति को 'विराट्' कहा गया है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। सहानुभूति की भावना उसे प्रकृति से मिली होती है। यह सहानुभूतियुक्त तेज ही व्यक्ति को समाजहित के लिए त्याग करने की प्रेरणा देता है। परस्पर सहानुभूति की यह भावना समाज की रक्षा के लिए व्यक्तिगत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामर्थ्य को न्यूनाधिक मात्रा में एकत्रित करते हुए एक विशिष्ट स्थान में केंद्रित करती है। यही विराट् है। यह चिति के प्रकाश में जाग्रत होता है और हम कहते हैं कि राष्ट्र जाग्रत हो गया है। विराट् राष्ट्र का प्राण है तो चिति आत्मा। चिति के प्रकाश से जाग्रत एकात्म जनसमाज की संगठित कार्यशक्ति विराट की प्रेरणा लेकर प्रकट होते ही राष्ट्र मातृभूमि की आराधना करता हुआ ऐहिक एवं पारलौकिक, सभी प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त कर विश्व में अजेय स्वरूप में खड़ा होता है। यही राष्ट्र के संबंध में शाश्वत एवं सत्य सिद्धांत है। इस सिद्धांत का भारत में प्रकटीकरण ही हिन्दू राष्ट्र है।'' (राष्ट्रजीवन की दिशा: पृष्ठ-61) यह राष्ट्रीय अवधारणा तुरंत आकलन के लिए कुछ कठिन प्रतीत होती है, किन्तु फिर से शरीर का उदाहरण लेने से उसका अनायास ही आकलन हो सकेगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चिति राष्ट्रजीवन की आत्मा है। इस आत्मा के कारण ही शरीर होता है। किन्तु आत्मा की अभिव्यक्ति करने तथा आत्मशक्ति को व्यवहार में कर्मप्रवण बनाने के लिए श्वसनक्रिया के रूप में अनुभव की जाने वाली तथा शरीर के प्रत्येक अवयव में संचार करने वाली प्राणशक्ति की आवश्यकता होती है। इस शक्ति का संचार अल्पसमय के लिए शरीर में रुक जाय, साँस थम जाय, तो दम घुटने लगता है। शरीर का हर अवयव तड़पने लगता है; इस घुटन को दूर करने के उपाय खोजने लगता है। आत्मा तो उस अवस्था में भी शरीर में होती ही है। जब तक प्राण है, तभी तक वह रहती है। समाज को स्वतंत्रता इसीलिए चाहिए होती है कि परतंत्रता में राष्ट्रीय प्राण-शक्ति का स्पंदन खुलकर नहीं चल पाता और राष्ट्र की आत्मा की सहज अभिव्यक्ति कठिन हो जाती है। इसीलिए विराट्स्वरूप प्राणशक्ति राष्ट्र की संगठित प्रतिकार शक्ति मानी जाती है। वह समष्टिभावना के रूप में केंद्रीभूत, तेजस्वी, ओजस्वी एवं बलशाली हो, तो राष्ट्र की सभी व्यवस्थाएँ ठीक से काम करती हैं। यही नहीं, शासन-संस्था भी चिति के विपरीत कुछ कर नहीं सकती। सामाजिक जटिलता को सुलझाने अर्थात् चिति के अनुकूल जीवन का सर्वांगीण विकास करने के मार्ग में आने वाली प्रत्येक बाधा को योजनापूर्वक दूर करने का अपना मुख्य दायित्व राज्य (स्टेट) भी भली-भाँति निभाता रहता है। जाग्रत चिति वाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुसंगठित समाज राष्ट्र की चिति से विसंगत अस्वाभाविक शासन को सहन नहीं करता। जहाँ ऐसा अस्वाभाविक शासन निभता है, वहाँ का समाज निद्रित, असंगठित, आत्मविस्मृत या अन्य शब्दों में विराट्शून्य ही माना जाता है। चिति ही जाग्रत न हो तो विराट् निराधार बन जाता है। क्षात्रशक्ति दिशाहीन हो जाती है। राष्ट्र दुर्बल, प्रतिकारशून्य एवं अन्तर्कलह से जर्जर दिखाई देता है। मानबिन्दुओं एवं श्रद्धाकेंद्रों की रक्षा नहीं हो पाती। पराधीनता भी आ सकती है। मूल्य-व्यवस्था ढह जाती है। चिति के कारण राष्ट्र मन ही मन अपने जीवनलक्ष्य का बोध करता रहता है और विराट् की सहायता से उस जीवनलक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बद्धपरिकर हो जाता है। राष्ट्रीय जीवन लक्ष्यानुसार सुव्यवस्थित चलता रहा तो समाज व्यक्ति तथा समष्टि दोनों अंगों से परम सुख अनुभव करता है। इस सुख की अनुभूति के लिए जाग्रत चिति वाला राष्ट्र चाहे जो त्याग करने के लिए सिद्ध होता है।

आज की चितिक्षीणता

इन सभी शास्त्रीय विचारों का संदर्भ लिये आज की परिस्थिति के बारे में सोचें तो कहना पड़ेगा कि राष्ट्रीय चिति क्षीण हो गयी है। बहुत ही थोड़े जनमानस में उसकी जागृति अनुभव की जा सकती है। अभ्युदय के क्षेत्र में अग्रसर, भौतिक दृष्टि से अधिक संपन्न एवं बलिष्ठ, किसी अन्य राष्ट्र का अनुसरण करने से हम भी बड़े बन जायेंगे, ऐसा सोचना देशभक्ति के धर्म के साथ सुसंगत नहीं है। इस अप्राकृतिक मार्ग पर चलने से विजातीय चिति के राष्ट्रीय चिति पर हावी होने की आशंका रहती है। हमारी अपनी कर्मचेतना सूखने लगती है। आज इस सत्य का आवश्यक बोझ हमारे मनों में नहीं रहा है। विदेशी चिति के आक्रमण के कारण होने वाला पतन बहुत तीव्रता से होता है। हममें दूसरे राष्ट्र का अनुसरण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, क्योंकि हम अपने प्राकृतिक जीवनलक्ष्य और उससे प्राप्त होने वाले आनंद की उपेक्षा करते हैं। ऐसी अवस्था में समाज के प्रतिभाहीन, व्यवसायशून्य, अनीतिमान एवं कुटिल लोगों का उत्कर्ष होने लगता है, ऐसा दैशिक शास्त्र में कहा गया है। वही दृश्य आज हमें जीवन के सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है। इस स्थिति को बदलना हो तो हमें चिति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और विराट् की अवधारणा, तथा उसके प्रतिकूल बातों का दृढ़तापूर्वक प्रतिकार करने के मार्ग पर ही चलना पड़ेगा। शास्त्र कहता है कि हिन्दुस्थान की कोरी गौरवगाथा गाने मात्र से कुछ भी विशेष साध्य नहीं होगा। संप्रति भारत की महान् संस्कृति पर विद्वतापूर्ण प्रवचन देने वाले लोग सभी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। किन्तु हिन्दू धर्म और संस्कृति का गर्व केवल शब्दों में व्यक्त कर देने से काम नहीं चलेगा। इस गर्व को कर्मशीलता के साथ जोड़ना पड़ेगा। हम 'धर्म' शब्द का उच्चारण करते हैं। तो हमें किसी स्वरूप के कर्म की ही सूचना मिलती है। मानसिक एवं बौद्धिक मान्यता धर्म नहीं होती। देशहित की केवल इच्छा देशभक्ति नहीं होती। दैशिक धर्म या देशभक्ति एक श्रेष्ठ कर्मयोग है। हमारे यहाँ वेदकाल से चली आयी विराट् समाजपुरुष की परिकल्पना हमारे प्राकृतिक स्वभाव के अनुसार अर्थात् चिति के कारण ही है। सहस्रशीर्ष, सहस्रबाहु समाजपुरुष अर्थात् विराट् का आंतरिक स्पंदन एक ही होता है, प्राणशक्ति एक ही होती है, हृदय एक ही रहता है। इस विराट् रूप में समष्टि को देखें तो समाजपुरुष और समाज के घटकों में अवयव-अवयवी जैसा स्वाभाविक संबंध स्थापित हो जाता है। आंतरिक आत्मशक्ति एक ही होने का अनुभव होने लगता है। यह विराट् पुरुष उस आत्मसाक्षात्कार के सुख को अनुभव करता हुआ अपने सारे क्रियाकलाप विभिन्न अवयवों के द्वारा किया करता है और प्रत्येक अवयव राष्ट्रपुरुष के संरक्षण एवं उसकी लक्ष्यप्राप्ति के लिए कार्यरत रहता है। मस्तक पर आघात होता हो तो बाहु संरक्षण के लिए अपने आप उठ जाते हैं और पाँव में काँटा चुभ जाये तो उसकी संवेदना पूरे शरीर में फैलकर सभी अवयव व्यथा अनुभव करते हैं। उस काँटे को खींचकर बाहर निकाल फेकने के लिए हाथ और आँखों की हलचल तुरंत हो जाती है। किन्तु इस विराट् को चिति का ही आधार होता है। हमारे राष्ट्र के सामने आज खड़ी सभी समस्याओं के मूल में चिति की क्षीणता और विराट् की जागृति का अभाव ही है।

जैसा कि पूर्व-पृष्ठों में कहा गया है, पं. दीनदयाल जी ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अपना जीवनसर्वस्व अर्पित कर दिया था। राजनीतिक क्षेत्र में नेतृत्व करते समय भी वे अपने आपको संघ का स्वयंसेवक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानते थे। उनके समर्पित जीवन का रहस्य यही दिखाई देता है कि राष्ट्र में चेतना और उद्यमशीलता के बिना केवल राजनीति के माध्यम से स्थिति में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। राष्ट्र में उसका अपना स्व-भाव जाग्रत होना चाहिए और उस जागृति के आधार पर उसे संगठित होना चाहिए। राष्ट्रानुकूल बातें ही होंगी और विपरीत बातों का प्रतिकार होगा, ऐसी एकात्म अनुग्रह-निग्रहात्मक लोकशक्ति सक्रियता से खड़ी करनी चाहिए। यही राष्ट्र-विराट् है। रा.स्व. संघ बिल्कुल यही कार्य कर रहा है। जाग्रत राष्ट्र की संरक्षक प्राणशक्ति ही रा.स्व. संघ का स्वरूप है। चितिक्षीणता और विराट् के प्रायः अभाव के कारण हुए विजातीय चिति के आक्रमण, समाज की जटिलताओं को सुलझाने में शासनसंस्था की पूरी अकार्यक्षमता और उलटे सत्तालोभ के कारण उस जटिलता को बढ़ाने की प्रवृत्ति, ये सब आज हमारे राष्ट्र की घुटन का कारण बने हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जब कहता है कि यह हिन्दू राष्ट्र है, और उसे संगठित स्वरूप में खड़ा करने के लिए अपनी विशिष्ट पद्धति से काम करता है, तो वह राष्ट्र की चिति और विराट् दोनों की ओर बराबर ध्यान देता है। इसी में से राष्ट्र अभ्युदय और मातृभूमि के परमसुख का अनुभव करेगा, यही देशभक्ति के शास्त्रीय सिद्धांत का निष्कर्ष है। इसीलिए पं. दीनदयाल जी ने अपना जीवन संघकार्य के लिए समर्पित कर दिया था। राजनीति को भी उन्होंने उसी व्यापक कार्य का एक अंग मात्र माना था। देवतास्वरूपिणी मातृभूमि के साक्षात्कार का लगाव मन में जागा तो फिर कोई भी त्याग बड़ा नहीं लगता। यही बात पं. दीनदयाल जी तथा अन्य हजारों संघकार्यकर्ताओं की समर्पणभावना से प्रतीत होती है। यही देशभक्ति का जागरण है और यही राष्ट्र का उत्थान भी। इस कार्य का रूप अभी आवश्कयता की तुलना में छोटा है। इष्ट परिवर्तन लाने के लिए अपर्याप्त है। किन्तु राष्ट्रीय जीवनलक्ष्य का प्रखर बोध इस कार्य में है। संघ की प्रार्थना में ''विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम्'' तथा ''विजेत्री च नः संहता कार्यशक्तिः'' का उल्लेख है। इस कार्य की पूर्ति के लिए बल प्राप्त हो, गुणवत्ता मिले, ऐसी प्रार्थना संघ के स्वयंसेवक परमात्मा से नित्य किया करते हैं। हमारे परंपरागत देशभक्ति-शास्त्र में राष्ट्रोत्थान की यही आवश्यकता बतायी गयी है। शास्त्रीय परिभाषा में इसे ही चिति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विराट् कहा गया है।

इसी जागृति के अग्रणी बनकर विभिन्न क्षेत्रों में महान् राष्ट्रपुरुष खड़े हुआ करते हैं। चिति जितनी मात्रा में क्षीण पड़ गयी हो, विराट् का अभाव जितनी मात्रा में न्यूनाधिक हो, उसी मात्रा में सामर्थ्य धारणा कर ये महापुरुष खड़े होते हैं। भगवान के राम और कृष्ण जैसे अवतार 'धर्म-संस्थापना के लिए' मनुष्य रूप में ही आते हैं, किन्तु युगपरिवर्तन की उनकी शक्ति असीम होती है। उन्मत्त एवं निरंकुश विचरने वाली धर्मविरोधी आसुरी प्रवृत्तियों का विनाश वे करते हैं। राष्ट्र के लिए वे चिरंतन दीपगृह बनकर खड़े होते हैं। उसके लीला-चरित्र के स्मरण एवं मनन मात्र से चिति-जागृति और विराट् निर्मिति की प्रेरणा मिलती है। कलियुग में संघरूप सामूहिक शक्ति द्वारा यही ईश्वरीय कार्य करवाना है। संघ के स्वयंसेवक संघ-प्रार्थना में ''त्वदीयाय कार्याय बद्धा कटीयम्'' कहकर प्रतिदिन यही संकल्प दोहराते हैं। पं. दीनदयाल जी ने राष्ट्र-चिंतन करते समय संघकार्य के इसी पहलू का उत्तम प्रकार से मर्म जाना है। राष्ट्रजीवन के सभी क्षेत्रों में एकात्मभावना के इस स्रोत को ले जाने की मूलभूत आवश्यकता पर उन्होंने बल दिया है। राजनीति का क्षेत्र भी उसमें आता है। 'परं वैभवं नेतुमेतत्स्वराष्ट्रम्' शीर्षक एक लेख में उन्होंने अध्ययनपूर्वक लिखा है कि हिन्दू राष्ट्र की संकल्पना को मूर्त करने के लिए किस प्रकार के कार्य की आवश्यकता है। उन्होंने लिखा है - 'धर्म का आधार हो, हम सब राष्ट्र घटकों की शक्ति संगठित हो, और वह कार्यशक्ति विजिगीषु हो, तभी हम अपने राष्ट्र को परम वैभवशाली बनाने में सफल होंगे। इन तीन बातों की ओर हमें एक साथ ध्यान देना होगा। किसी एक ही बात का विचार करने से काम नहीं चलेगा। ये तीनों बातें एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं, प्रत्युत् वे परस्पर पूरक हैं - एक ही हैं। एक के बिना दूसरी की कल्पना तक नहीं की जा सकती। परम वैभव प्राप्त करना हो तो सफल प्रयास करने ही पड़ेंगे। प्रयास की सफलता संगठन पर निर्भर होती है। धर्म के आधार के बिना कोई स्थायी संगठन खड़ा नहीं किया जा सकता। धर्म भी तभी प्रकट होता है जबकि संगठन के रूप में कार्यदक्ष व्यवस्था हो। सहज प्राकृतिक भाव से जो एक हैं तथा जिनमें अवयव-अवयवी का घनिष्ठ भाव होने के कारण जो समूहतः एक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम से पहचाने जाते हैं, उन्हीं का संगठन हो सकता है।' स्पष्ट है कि पं. दीनदयाल जी के सम्मुख यह लिखते समय हिन्दू राष्ट्र का अभ्युत्थान और हिन्दू समाज का संगठन ही था। हिन्दुस्थान में निर्दोष राष्ट्रचिंतन की यही एकमात्र दिशा हो सकती है। यह बात राष्ट्र को भली-भाँति समझाने तथा जागृति लाने में ही दीनदयाल जी की सारी प्रतिभा काम आयी है। राष्ट्रीय स्वत्व के साक्षात्कार के कारण उनके शब्दों को गंभीरता एवं प्रत्ययकारिता प्राप्त हुई है।

○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
155201

9

विविधता में एकता का सूत्र

हमारे हिन्दू राष्ट्रस्वरूप का साक्षात्कार करते और उस दर्शन का अतीव सुख अनुभव करने का स्वाभाविक प्रयास करते समय हमारे राष्ट्रजीवन की एक अनन्य विशेषता का बोध कर लेना भी अवश्यक है। 'यह हिन्दू राष्ट्र है, ऐसी सुस्पष्ट मान्यता प्रकट करने में राजनीतिक स्वार्थवश झिझकने वाले नेताओं ने भी इस विशेषता का गुणगान किया है। सुसंवादी तथा सुखपूर्ण राष्ट्रजीवन के निर्माण के लिए इस विशेषता को सँजोये रखने की आवश्यकता भी प्रतिपादित की है। यह अवश्य है कि वे इस विशेषता का वर्णन करते समय राजनीतिक स्वार्थ पर दृष्टि रखकर अपने शब्दों का प्रयोग करते हैं और हिन्दू, मुसलमान इत्यादि संप्रदाय-भिन्नता के संदर्भ में बोलते हैं। किन्तु इसमें दो मत नहीं हैं कि प्राचीन काल से यहाँ के जनजीवन में एक ऐसी महान् विशेषता समायी है कि सारा संसार उससे शिक्षा ले। यह परम मनोहर विशेषता है इस राष्ट्र की विविधता में एकता अनुभव करने की ऐतिहासिक क्षमता। हिन्दू शब्द का उच्चारण करते ही इस गुण का बोध अवश्य होता है। भारतीय कहने पर भी इसी गुण का बोध होता है। मानो परमात्मा ने भारतवर्ष और यहाँ के हिन्दू समाज को जन्म देते समय ही विविधता में एकता के महान् सत्य का मूल पाठ सारे विश्व के लिए यहाँ लिख दिया है। भारत वर्ष के मानव-जीवन एवं प्रकृति की यह विलक्षण विविधता या अनेकता देखकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेशी पद्धति से विचार करने वाले कई लोगों के सम्मुख यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि कैसे इस देश को एक माना जाये। हिमालय से कन्याकुमारी तक और आसिंधु फैले इस देश में प्राकृतिक विविधता का बहुत ही रम्य प्रदर्शन ईश्वरीय संकेत से ही अनादि काल से सिद्ध है। विश्व में पायी जाने वाली प्रकृति की हर विशेषता भारत में है। ऋतु या जलवायु लीजिए, वनस्पति लीजिए, भूप्रदेशों की रचना का विचार करें, प्राणीजीवन को देखें, सब को अवाक् करने वाली विविधता यहाँ आपको मिलेगी। कहीं वर्षा का जागतिक उच्चांक है, कहीं गरमी की परिसीमा और कहीं शीत की विकटता। कहीं पर आकाश को छूने वाले पर्वत-शिखर हैं, तो कहीं विशाल समतल भूमि। कहीं घने जंगल और खाई-घाटियाँ हैं तो कहीं विशाल गोचर भूमि और रेगिस्तान। जीवन-सृष्टि में तो हमारे देश में कितनी विविधता है, कोई नहीं जानता। रहनसहन की पद्धतियाँ भी इसी प्रकार अनेक हैं। खानपान की शैलियाँ और रीतियाँ भी विभिन्न भागों में विभिन्न हैं। कहीं चावल, कहीं गेहूँ, कहीं ज्वार तो कहीं मकई-बाजरा है। कहीं मांस-मच्छी तो कहीं केवल शाकसब्जियाँ। ऋतु और जलवायु के अनुसार वेशभूषा में भी विविधता और भिन्नता है। दक्षिण में लुंगी के अतिरिक्त कुछ भी न पहनने वाले लोग हैं तो काश्मीर में गरम कपड़ों का आवरण शायद ही कभी छोड़ने वाले। भाषा-भिन्नता, बोली-भिन्नता, लोगों की वर्ण-भिन्नता का तो कोई अंत ही नहीं। इस प्रकार प्राकृतिक विविधता से विभूषित है हमारा यह विस्तीर्ण भूखण्ड। कोई इस विविधता का वर्णन करना चाहे तो उसे बड़े-बड़े ग्रंथ लिखने पड़ेंगे। भारतवर्ष की इस विलक्षण विविधता का चित्रण या शब्दांकन करने वाले नाना ग्रंथ देखने को मिलते तो हैं, किन्तु वे अपर्याप्त ही हों ऐसा है यह देश। प्राचीन काल से आज तक इस विविधता को नष्ट करने का विचार किसी ने नहीं किया। राष्ट्रजीवन की विविधता को समाप्त कर लोगों पर एकरूपता थोपने का प्रयास करने की भी किसी को यहाँ सूझी नहीं है। प्रत्युत् यहाँ ऋषि-मुनियों, महापुरुषों एवं संस्कृति के अगणित दूतों ने ईश्वरप्रदत्त प्रेरणा से प्रयास यही किया कि इस सारी विविधता को बनाये रखते हुए भी यहाँ एकत्व का आंतरिक सूत्र दृढ़ हो। इस सूत्र में सबको पिरोया जाये। विविधता में एकता के महान् सत्य का साक्षात्कार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्व को कराने के लिए ही मानो परमात्मा ने भरतभूमि के लोगों को एक प्रयोगभूमि उपलब्ध करा दी और यहाँ के तत्त्वद्रष्टाओं ने उस प्रयोग को सफल सिद्ध कर दिया।

अभी संघर्ष समाप्त नहीं हुआ

शक, हूण, आदि विदेशी यहाँ आये। उनमें से अधिकांश को एकत्व के इस गंगाप्रवाह में सम्मिलित कर लिया गया। आज उनका अलग अस्तित्व कहीं प्रतीत नहीं होता। अपवाद पिछले हजार-बारह सौ वर्षों में केवल मुसलमान और ईसाई आक्रामकों का रहा है। इसका कारण यह है कि उस समय भारत की पाचनक्षमता क्षीण हो गयी थी। आंतरिक विघटन के कारण राष्ट्र दुर्बल हो गया था। फिर इस्लामी और ईसाई, दोनों धाराएँ मानवजीवन में स्वाभाविक विविधताओं का आदर करने वाली नहीं हैं। उनकी दौड़ एकरूपता की दिशा में होती है। एक प्रेरक, एक धर्मग्रंथ और एक ही उपासना-मार्ग के साम्प्रदायिक अभिनिवेश का विलक्षण प्रभुत्व उनकी मानसिकता पर है। विश्व-कल्याण के लिए उसे ईसामय करने की ईसाइयों की आकाँक्षा है, तो जब तक सारा संसार इस्लाम को मानने वाला नहीं हो जाता और सर्वत्र इस्लाम की सत्ता स्थपित नहीं हो जाती, संसार का उद्धार नहीं हो सकता, यह पैगंबर के अनुयायियों का आग्रह है। इसीलिए इन दोनों सम्प्रदायों में दूसरों को धर्मान्तरित कर खींच लाने पर बहुत बल दिया जाता है। वे जहाँ-जहाँ गये, वहाँ उन्होंने सूक्तासूक्त उपाय अपनाकर यही प्रयास किया। आज भी वह चालू है। विविधता में एकता देखने वाला भारत और उपासना-संप्रदायों में विविधता को सहन ही न कर सकने वाले ये असहिष्णु आक्रांता भारत में एक-दूसरे से टकराये। इस टक्कर में समाज पर हुआ आघात विलक्षण हिंसक, विध्वंसक एवं कुटिल था। हिन्दू समाज दुर्भाग्य से उस समय असंगठित एवं बिखरा पड़ा था। उसमें प्रखर राष्ट्रीय बोध नहीं था। धर्मांतरण एवं उपसना-मार्ग में बलप्रयोग से वह अपरिचित था। हिन्दुओं में तो उपासना-पद्धति की पूरी स्वतंत्रता रही थी। अतः पंथपिशुन आघात एवं उसके अभिनिवेश वालों की राजनीतिक सत्ता में रहने की नौबत आने के कारण कुछ सदियों का काल विकट संघर्ष में बीता। किन्तु अन्ततः मुस्लिम प्रभुता को उखाड़ फेकने में हिन्दुओं को सफलता मिली, यद्यपि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटिश हस्तक्षेप के कारण मुस्लिम कट्टरता के उन्मादी उत्साह को स्थायी रूप से चूर करने के लिए पर्याप्त अवधि उन्हें नहीं मिली। आगे चलकर ईसाइयों और इस्लाम दोनों का एक साथ सामना करना पड़ा। इस संघर्ष में अनेक स्थित्यंतर आये। किन्तु राजनीतिक स्वतंत्रता मिलने के बाद भी हिन्दुस्थान में अपने स्वत्वपूर्ण अस्तित्व के लिए हिन्दू समाज को आज भी संघर्ष करना ही पड़ रहा है। वह संघर्ष चल ही रहा है, अभी समाप्त नहीं हुआ।

इतिहास सिद्ध सत्य यह है कि भारतवर्ष में कितनी ही विविधता क्यों न हो, वह एक राष्ट्र है, हिन्दू राष्ट्र है। बाह्य विविधताओं के भ्रामक अभिनिवेश के कारण बुद्धि पर आया विलगता एवं संकीर्णता का पटल दूर कर राष्ट्र जब तक अपनी आंतरिक एकता का संजीवक साक्षात्कार फिर से नहीं करता, उसकी दुर्बलता समाप्त नहीं होगी। यह है दीनदयाल जी द्वारा राष्ट्र के सम्मुख प्रस्तुत विचार। हमारे राष्ट्रीय जीवन की समन्वयात्मक विशेषता बताते हुए उन्होंने कहा है – 'हमारा राष्ट्रजीवन एक विस्तृत भूप्रदेश पर विद्यमान है। उसमें प्रचुर विविधता है। यह विविधता स्वाभाविक है। उसके कारण हमारे जीवन का सौन्दर्य वृद्धिंगत होता है। जैसे रंगबिरंगे फूलों की सुंदर माला बनायी जाती है, उसी प्रकार विविधता में भी विशिष्ट सूत्रों की सहायता से समन्वय स्थापित किया जा सकता है। जीवन की ओर देखने की आध्यात्मिक दृष्टि ही वह सूत्र है, माध्यम भी है। किन्तु ऐसा समन्वय समान प्रकृति वाली बातों में ही लाया जा सकता है, विकृतियों के साथ नहीं लाया जा सकता। अनेक प्रकार के अनाजों की खिचड़ी तो पकायी जा सकती है, किन्तु उसमें कंकड़ मिलाने पर विकृति उत्पन्न होती है। शरीर पर फोड़ा निकल आये तो शल्यक्रिया करनी ही पड़ती है। उसके साथ कोई समझौता नहीं किया जा सकता। यदि किया जाता है, तो अपने आपको रोगग्रस्त बनाने वाली बात हो जाती है। राष्ट्रजीवन पर भी यही बात लागू होती है। हमारी भाषाएँ भिन्न हो सकती हैं, उपासना-पद्धतियाँ अलग-अलग हो सकती हैं, वेशभूषा और खानपान भिन्न हो सकते हैं, किन्तु इन सभी विविधताओं में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। हमारे अंतःकरण में मातृभूमि के प्रति अविचल श्रद्धा हो, हमारी हृद्तंत्री के तार समान आदर्शों एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
जीवनमूल्यों से झंकृत होते हों, तो समन्वय स्थापित करना किंचित् भी कठिन नहीं होता। किन्तु वह श्रद्धा ही न हो तो ये सब प्रकार की विविधताएँ विघटन को ही जन्म देंगी।

(राष्ट्रजीवन की दिशा : पृष्ठ 73-74)

आत्मविस्मृति के कारण विघटन

श्रीमत् आद्य शंकराचार्य ने समन्वय द्वारा राष्ट्रीय एकता की भावना जगाने का सफल प्रयास किया। इतिहास उसका साक्षी है। शंकराचार्य ही क्यों, हमारे भारत में जितनी भी राष्ट्रीय विभूतियों को हम मानते हैं, उन सब ने इन सारी विविधताओं के साथ इस संपूर्ण भूमि के प्रति आत्मीयता की भावना रखने की शिक्षा हमें दी है। शंकराचार्य द्वारा स्थापित चारों धाम देश के चार कोनों में हैं। इन चारों धामों की यात्रा करने वालों के सम्मुख पूरे भारत की एकात्म छवि खड़ी हुए बिना नहीं रहती। हमारे प्राचीन एवं अर्वाचीन इतिहास एवं महापुरुषों के चरित्रों में अनेक प्रसंग इस बात का साक्ष्य देने वाले हैं कि विविधता में एकता के सूत्र को राष्ट्र द्वारा कैसे सँजोकर रखा गया। यहाँ, रामायण के रामचरित्र ने अयोध्या से लंका तक एक सांस्कृतिक एकत्व की प्रतीति दिलायी। विविधता में एकता का अनुभव करते हुए हजारों वर्ष अगणित सत्यपुरुषों ने देशभर में भ्रमण किया है। नामदेव, समर्थ रामदास, विवेकानंद, श्रीगुरुजी विगत सात-आठ सौ वर्षों में हुऐ ऐसे ही भ्रमणकर्ताओं के अनेक उदाहरणों में से कुछ हैं। इनमें से किसी को भी मातृभूमि का कोई भी भाग कभी पराया नहीं लगा। इस समन्वयात्मक प्रयास में लचीलापन भी पाया जाता है। गौतम बुद्ध को हमारी अवतार-परंपरा में स्थान मिल सकता है। पंचायतन में किस देवता को प्रमुख मानना, इसका निर्णय भी हम कर सकते हैं। यही कारण है कि 'यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्' कहने वाला तथा 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' कहकर नैतिकता को अस्वीकार करने वाला चार्वाक यहाँ एक दर्शन' का जनक माना जा सकता है। यह भिन्न बात है कि चार्वाक का यह दर्शन सुख प्राप्ति के मार्ग के रूप में कसौटी पर खरा नहीं उतरा और राष्ट्र ने उसे स्वीकार नहीं किया। विश्व में सब कुछ एक-दूसरे के समान ही होता, तो परमात्मा की यह सृष्टि एक नीरसता और उकताहट का कारण बन गयी होती। इसीलिए अनेकता को स्वीकारते हुए, उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर करते हुए, आंतरिक एकता के अनुसंधान से न हटना हमारी राष्ट्रीय जीवन रीति है। राष्ट्रजीवन के हर क्षेत्र में हमने इसी प्रणाली को स्वीकार किया है। हिन्दुओं के सामूहिक व्यक्तित्व (पर्सनैलिटी ऑफ द पीपुल) का स्वरूप ऐसा है। विविधता में एकता ही भारत में आत्मीयता तथा समता आदि सिद्धांतों का आधार-तत्त्व है। भौतिक व्यवहार में संपूर्ण समानता असंभव ही होती है। अलंकार सारे सुवर्ण के ही होते हैं, किन्तु कुछ सिर पर और कुछ गले में पहने जाते हैं; कुछ हाथों पर, कुछ पाँवों में ही शोभा देते हैं। उनका बाह्य आकार भिन्न होता है, काम भी भिन्न होता है, किन्तु बाह्य नाम और रूप के नष्ट होते ही अंत में शेष रहने वाला सुवर्ण समान ही होता है। यह तत्त्वज्ञान हिन्दू जीवन के रोम-रोम में समाया है। हिन्दू 'स्वभाव' से किसी भी प्रकार उसे अलग किया ही नहीं जा सकता। उसका बोध जगाना और विविधता में एकता को अनुभव करना ही हमारे यहाँ जीवन की उच्च एवं विकसित अवस्था मानी गयी है। इससे पं. दीनदयाल जी के इस प्रतिपादन का, कि "जीवन की ओर देखने की आध्यात्मिक दृष्टि ही समन्वय का सूत्र है", महत्त्व समझ में आयेगा। भारत को विश्व में जिस वैदिक तत्त्वज्ञान के लिए प्रतिष्ठा प्राप्त है, जिसका ध्वज कंधे पर लेकर स्वामी विवेकानंद ने विश्वविजय की थी और जिस तत्त्वज्ञान का संबल लिये आज भी हजारों लोगों को हमारे अनेक साधुसंत विदेशों में धर्मज्ञान बताते हैं, वह तत्त्वज्ञान अद्वैत का ही है। नामरूपात्मक सृष्टि में कितनी ही विविधता क्यों न दिखाई देती हो, आंतरिक चेतना एक ही है। उसी तत्त्वतः एक चेतना की अभिव्यकित है हमारी यह दृष्टिगोचर विविधतापूर्ण सृष्टि। इस तत्त्वज्ञान के उद्गाता के रूप में भारतवर्ष का अस्तित्व है। उसके राष्ट्रजीवन की यही अस्मिता है। इसी सिद्धांत के अनुसार आचरण करना उसका जीवनलक्ष्य है। यही धर्म है और इस धर्म के परिपालन में ही सब प्रकार का श्रेय समाया हुआ है।

इसलिए कहना पड़ता है कि किसी न किसी बाह्य भेद का बहाना कर राष्ट्र की आंतरिक एकात्मता को अमान्य करने वाले एवं संकीर्ण दृष्टि से संघर्ष के लिए उद्यत लोगों को आत्मविस्मृति हो गयी है। कम्युनिस्ट विचारधारा को मानने वाले लोग विचार प्रस्तुत करते हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत के विभिन्न भाषिक घटकों की विभिन्न राष्ट्रीयताएँ (नेशनलिटीज) हैं। वे यह परिकल्पना भी प्रसृत करते हैं कि ऐसे राष्ट्रों का हिन्दुस्थान एक संघ है। किन्तु यह परिकल्पना भारत के तत्त्वज्ञान एवं जीवन-प्रणाली के मूल पर ही कुठाराघात करने वाली है। हिन्दू सहज ही में प्रश्न करेगा कि भई, भाषा भिन्न होने से क्या होता है? उतने मात्र से उसे भिन्न क्यों माना जाये? भाषा भिन्न हैं तो हों, भाषाएँ भी हमारे राष्ट्र का ही वैभव हैं। मलयालम्, कन्नड़, तेलुगू, तमिल, सारी हिन्दुओं की ही भाषाएँ हैं। एक ही सांस्कृतिक वटवृक्ष की वे वृक्षरूप शाखाएँ हैं। उनकी भाषाभिन्नता के कारण क्या उनकी संस्कृति भी भिन्न हो जाती है? भारत क्या दो दर्जन विजातीय भाषाओं का भानुमति का कुनबा है? अरे, उन भाषाओं में कौन सा भाव व्यक्त होता है, इसे भी तो देखो! हिन्दी, मराठी और गुजराती संतों ने जो बात बतायी, वह दक्षिण के संतों की बात से क्या किंचित् भी भिन्न है? रामायण-महाभारत की ही कथाएँ उन भाषाओं में भी तो हैं न? देशभर में जो अध्यात्म-विचार प्रस्तुत किया जाता है, वही उन भाषाओं में भी व्यक्त होता है कि नहीं? समान आदर्शों का आदर प्रत्येक भाषा ने किया है तो उन भाषाओं को मिटाकर एक ही भाषा को सब पर थोपने के लिए कारण क्या है? हिन्दू मानस में प्रकट होने वाली यह प्रतिक्रिया बिल्कुल स्वाभाविक एवं सहज है। विविधता में एकता की अनुभूति उसमें से व्यक्त होती है। आंतरिक एकता की इस भावना की उपेक्षा कर भारत में भिन्न-भिन्न प्रादेशिक संस्कृतियाँ होने की विकृत धारणा किसी ने फैलायी है तो वह विदेशियों ने तथा विदेशी विचारों पर पलने वाले लोगों ने ही फैलायी है।

प्राचीन परंपरा में संकेत

हमारे वेदसाहित्य में अथर्ववेद में हिन्दू राष्ट्रस्वरूप के विकास का प्रतिबिंब पाया जाता है। उससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत में राष्ट्रीय भावना का पोषण विचारपूर्वक किया गया है। आजकल हमें बार-बार सुनने को मिलता है कि भारत में बहुरंगी समाज (Pluralistic society) है। राजनेतागण यह भी कहते हैं कि इसी कारण राजनीतिक समस्याएँ पैदा होती हैं। किन्तु क्या भारतीय समाज का यह बहुरंगी स्वरूप आज ही नया उत्पन्न हुआ है? अथर्ववेद का एक ही उद्धरण यह सिद्ध करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए पर्याप्त है :

जनं विभ्रती बहुधा विवाचसम्, नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रधारा द्रविणस्य मे दुहाम, ध्रुवेन धेनुं रन प्रस्फुरन्ती॥

अर्थात् विभिन्न भाषा बोलने वाले एवं विभिन्न गुणधर्मों के लोगों को एक ही घर में रहने वाले परिवार की भाँति जो धारण करती है, वह हमारी मातृभूमि अपने दूध को बिना रोके उन्मुक्त भाव से देने वाली गाय की भाँति धन की सहस्रधारायें हमें प्रदान करे। अतः बहुरंगी समाज कोई नयी बात नहीं है। इन सभी रंगों को पचाकर एकात्म समाज यहाँ बना है। उसे बहुरंगी बताकर देश की एकात्मता को संकट में डालने वाली नीतियों को आज अंगीकार किया जा रहा है। परिवार संस्था, सभा और सभ्य, राष्ट्र-समिति, आमंत्रण-परिषद्, मंत्रिमंडल, आदि विकासक्रम का अथर्ववेद में स्पष्ट उल्लेख है। उसके बाद विभिन्न प्रकार की शासनप्रणालियाँ प्रचलित हुई हैं। सबको एक ही प्रणाली के साथ बाँध देने का आग्रह यहाँ नहीं रहा है। काल और परिस्थिति की भिन्नता के अनुसार यहाँ शासनपद्धति भी भिन्न रही है। उसमें कोई साँचाबंद भाव नहीं रहा है। हमारे यहाँ के मंत्रों में (उदाहरणार्थ, मंत्रपुष्पांजलि) कम से कम दस-बारह प्रकार की शासनप्रणालियों का उल्लेख है। प्रकृति, आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार राष्ट्रानुकूल शासकीय व्यवहार हो, यही इसका सूत्र है। यही विविधतापूर्ण हिन्दू राष्ट्रजीवन के सुदृढ़ आंतरिक एकत्व का भी सूत्र है। लक्षणीय बात यह है कि इन विविध शासनप्रणालियों (Forms of Government) और उनके संविधानों का निर्माण उस समय की प्रवाही राजनीति के राजनेताओं ने नहीं किया था। हमारे वर्तमान संविधान के संदर्भ में कहना पड़ता है कि उसके निर्माता (initiators and pioneers) यद्यपि ऊपरी दृष्टि से लोक-प्रतिनिधि थे, किन्तु वास्तव में वे एक राजनीतिक दल के ही प्रतिनिधि थे और प्रत्यक्ष सत्ताप्राप्ति हेतु उन्होंने मातृभूमि का विभाजन करना स्वीकार कर लिया था। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आवश्यक स्वतंत्र प्रज्ञा उनमें नहीं थी। निष्कलंकता, स्वार्थमुक्तता और विशुद्ध जनहित तत्परता उनकी बुद्धि के गुण नहीं माने जा सकते। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा भारत या इंग्लैण्ड में निर्मित की गयी पद्धतियों एवं व्यवस्थाओं से तथा उसी प्रकार अमरीका जैसे देश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा अंगीकार की गयी प्रणालियों एवं व्यवस्थाओं से बहुत सी बातें उधार लीं। इस विषय में और विवेचन आगे आने वाला है। इस समय विचारणीय इतना ही है कि विविधता से विभूषित हमारे राष्ट्र में यहाँ के भासमान बहुरंगी लोकजीवन में प्राकृतिक विशेषताओं से सुसंगति रखते हुए भिन्न-भिन्न शासनप्रणालियों का प्रयोग प्राचीन काल में करने वालों ने किसी का अनुकरण नहीं किया था, न ही उनकी बुद्धि किसी स्वार्थ से लिप्त थी। आत्माज्ञानी ऋषियों ने अपने तपस्वी जीवन से राष्ट्र को बल तथा ओज दिया, ऐसा वर्णन हमें पढ़ने को मिलता है। उनके बारे में यह भी वर्णन मिलता है कि 'लोग जब दुर्बल, विघटित एवं बचकाने बन गये, तब वसिष्ठ उनके नेता बने। और फिर वे ही भारतीय लोग तेजस्वी और समृद्ध हो गये।' राजा का शासन तो भारत की अनेक शासनप्रणालियों में से एक प्रणाली थी। वही एकमात्र प्रणाली नहीं थी। इस प्रणाली में भी ऐसे प्रर्याप्त प्रावधान थे कि राजा सर्वकष सत्ता का धनी नहीं बन सकता था। प्राचीन भारत में केवल अत्याचारी सामंत तंत्र था, यह तो अंग्रेजों द्वारा जानबूझकर फैलाया गया भ्रम है। अत्याचारी सामंत तंत्र का जन्म मुख्यतः मुसलमानी आक्रमण के बाद हुआ। अन्यथा भारत की विविध राज्यशासन-प्रणालियों ने राष्ट्र की सांस्कृतिक एवं भौगोलिक एकता की उपेक्षा कभी नहीं की।

गोवा की संस्कृति भिन्न है, तमिल, 'कल्चर' अलग है, काश्मीर या नागा लोगों की संस्कृति स्वतंत्र है, और इन सबका अलगपन बनाये रखने का दायित्व केंद्र-शासन ने अपने पर लिया है, ऐसी बातें राष्ट्रीय एकात्मता के लिए पोषक नहीं हैं। किन्तु राजनीतिक नेता इसी भाषा में बोलते हैं। भारत के प्रथम प्रधान मंत्री पं. नेहरू ने ठीक इसी भाषा का प्रयोग सर्वत्र किया था। गोवा को उन्होंने ही अलग रखा। काश्मीर की आज जटिल प्रतीत होने वाली समस्या भी उन्हीं की गलत विचारधारा के कारण उत्पन्न हुई। उन्होंने इस महान् सत्य को भुला दिया कि संपूर्ण भारत एक ही सांस्कृतिक जीवनधारा है, विविधता से उसे कोई परहेज नहीं है, और बाह्य विभिन्नता के होते हुए भी सबका जीवन-लक्ष्य-गन्तव्य स्थान-एक ही है। राजनीतिक स्वार्थ की लालसा के कारण विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला। धर्म के बारे में भी यही विवेकहीनता पायी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती है। शासनकर्ताओं तथा समाचार-पत्रों ने निस्संकोच सिख, जैन, बौद्ध आदि उपासना-मार्गों को विभिन्न धर्म कहा। हिन्दुत्व की परिधि में विभिन्न उपासना-पंथों के लिए स्थान है। वास्तव में यह हमारे राष्ट्रीय जीवन की एक भूषणास्पद विशेषता है। हिन्दू चिंतन की मान्यता है कि गंतव्यस्थान एक ही होने पर भी वहाँ पहुँचने के मार्ग कई हो सकते हैं। विविधता में एकता के लिए यही आधारभूत सत्य है। स्वामी विवेकानंद ने 1893 में शिकागो की सर्वधर्मपरिषद् में अपने भाषण में यही सूत्र प्रस्तुत कर मानव-एकता का मार्गदर्शन किया।

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

ये शिवमहिम्नस्तोत्र की पंक्तियाँ स्वामी जी ने अपने उस ऐतिहासिक भाषण में उद्धृत कीं। इसी का प्रत्यक्ष आदर्श हमारा हिन्दू राष्ट्रजीवन है। किन्तु यहाँ भले-भले लोग कितनी विचित्र भाषा बोलते हैं! हिन्दू तथा सिख, सवर्ण व दलित, धार्मिक, अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक, ऐसे विभेद लोकजीवन में निर्मित करना विविधता में एकता से विभूषित राष्ट्रधारणा की उत्तरदायी लोगों द्वारा नित्य हो रही विडम्बना ही है! उपासना-प्रणाली के नाते हिंदू नाम का कोई 'धर्म' अस्तित्व में ही नहीं है। विविधता में एकता का जो सत्य, प्रत्यक्ष का जो सत्य प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा राष्ट्र ने यहाँ देखा, उसी में से एक सांमजस्यपूर्ण एवं समग्र जीवनदृष्टि उसे प्राप्त हुई। उस जीवनदृष्टि के आधार पर यहाँ एक जीवन-पद्धति साकार हुई। इस अनुभूति, जीवन-दृष्टि, संस्कृति, जीवन-पद्धति एवं जीवन-मूल्यों को मानने वाला हमारा हिन्दू राष्ट्र है। यही पूरी वास्तविकता है। यही हिन्दू विचारधारा है, जो नाना प्रवाहों को अपने भीतर समाती हुई अपनी विलोभनीय विशेषताओं के साथ अति प्राचीन काल से निरंतर अक्षुण्ण बहती आ रही है। उसी की विडम्बना हो, तो राष्ट्र के नाते भारत का क्या महत्त्व रहेगा? इसीलिए हमें विविधता में एकता के विश्वकल्याणकारी सूत्र की प्राणपण से रक्षा करनी चाहिए।

तत्त्वज्ञान के साथ सुसंगति

पं. दीनदयाल जी ने इस संबंध में अपना मत बहुत ही स्पष्ट शब्दों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में व्यक्त किया है। एक लेख में उन्होंने लिखा है – 'हम एकता की आकाँक्षा रखते हैं, तो भारतीय राष्ट्रीयता (जो हिन्दू राष्ट्रीयता है) और भारतीय संस्कृति (जो हिन्दू संस्कृति है) का दर्शन हमें करना होगा। भागीरथी के पुण्यप्रवाह में सब प्रवाहों का संगम होने दीजिए, यमुना भी उसमें आ मिलेगी और अपनी सारी कालिमा खोकर गंगा की धवल धारा में एकरूप हो जायेगी। किंतु उसके लिए चाहिए भगीरथ-प्रयासों की निष्ठा। 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' के सिद्धांत को स्वीकार कर हमने संस्कृति एवं राष्ट्र की एकता का अनुभव प्राप्त किया है, वह हजार वर्ष की असफलता से अधिक है। अतः धीरज खोने का कोई कारण नहीं है। पीछे-पीछे आने वाले सैनिक थक गये हों, तो नये सामने आयेंगे। पीछे वालों को अपनी थकान खुले मन से स्वीकार करनी चाहिए। अपने साधनों की दुर्बलता को मान लेना चाहिए। युद्ध जीत ही नहीं सकेंगे, ऐसी हताशा ठीक नहीं। यह हताशा हमारी अस्मिता एवं परंपरा के प्रतिकूल है।'' एक कृतिशील एवं सत्यान्वेषी विचारक को और कितनी स्पष्टता से बोलना चाहिए? ध्यान देने योग्य बात यह है कि सत्य एक ही है। समझदार लोग सृष्टि की विविधता की ओर उसी सत्य के रूपों के नाते देखते हैं। यह है हिंदू तत्त्वज्ञान का सिद्धांत। उसी का आधार पं. दीनदयाल जी ने राष्ट्रजीवन के मर्म को प्रकट करने के लिए लिया है। इस तत्त्वज्ञान का विस्तार व्यापक है और उसमें से समग्र जीवन को मिलने वाली दिशा, स्नेह, आत्मीयता, सामंजस्य आदि गुणों का पोषण करने वाली है। समता और बंधुता का अर्थ इस तत्त्वज्ञान के अनुसार लगाया जाय, तभी उसे बुद्धिगम्य व्यावहारिक आशय प्राप्त होता है। अ और ब दोनों व्यक्तियों को समान मानना सिखाने वाला सूत्र केवल हिंदुओं द्वारा विकसित तत्त्वचिंतन में ही हम पा सकते हैं। ये दोनों एक-दूसरे को बंधु क्यों मानें? एक-दूसरे से प्रेम किसलिए करें? इन सभी प्रश्नों के उत्तर इसी तत्त्वचिंतन में पाये जाते हैं। जीवनविषयक यह समान धारणा ही विविधता में एकता सूत्र है। जड़वाद में यह धारणा नहीं होती। इसीलिए उसमें भीषण स्पर्द्धा होती है। उसमें 'सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट' – छोटी मछली बड़ी मछली द्वारा निगली जाने की स्पर्द्धात्मक एवं संघर्षात्मक भाषा प्रयुक्त होती है। हिंदू चिंतन में सबकी सहजीविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सर्वाइवल ऑफ ऑल) की धर्मानुकूल परिकल्पना है। मुझे समाज बांधवों के दुःख से दुःखी तथा सुख से सुखी क्यों होना चाहिए, इस प्रश्न का यही प्रयोगसिद्ध एवं असंदिग्ध उत्तर है।

दो शरीर भिन्न हों, उनका रंगरूप अलग-अलग हो, उनकी वेशभूषा और खान-पान में अंतर हो, तब भी दोनों का मूल स्वरूप एक है, यह सीख हिंदू चिंतन ने दी है। आर्थिक, सामाजिक, प्राकृतिक अथवा अन्य कोई भी बाह्य भेद इस सिद्धांत को आँच नहीं पहुँचा सकता। ज्ञानेश्वर जी ने भगवान के मुख से यह आध्यात्मिक सत्य अर्जुन को बहुत ही उत्तम रीति से समझाया है। ज्ञानेश्वरी की वे ओवियाँ (पंक्तियाँ) इस प्रकार हैं-

इनके नाम भिन्न भिन्न। अलग अलग आचरण।
वेश भी समान नहीं। कहीं किसी के ।।2058।।
यहाँ भूतमात्र विषम। किन्तु वस्तु सदा सम।।
घट पट में व्योम। एक जैसे ।।1064।।
नष्ट होते भूतभास। आत्मा न पाये नाश।।
जैसे केयूरादि में निकष। सुवर्णगुण का।।1065।।

(ज्ञानेश्वरी अ. 13)

अतः विविधता में एकता (यूनिटी इन डाइवर्सिटी) भारत के राष्ट्र-जीवन की अनन्य विशेषता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्रीगुरुजी तो कहा करते थे कि सम्प्रति इस विविधता (डाइवर्सिटी) को पूँजी बनाकर संकीर्ण स्वार्थ साधने की ओर रुझान दिखाई दे रहा है। एकता (यूनिटी) का विचार ही नहीं किया जाता। एकता के विचार पर बल दिया जाय, उस सूत्र को दृढ़ बनाया जाय, तभी विविधता के कारण उत्पन्न हुआ अज्ञानजन्य भ्रम दूर होगा और राष्ट्रजीवन सुचारुढंग से चलता रहेगा। प्राणिमात्र में समान रूप में रहने वाली इस आंतरिक चेतना के बोध पर सारे व्यवहारों की रचना करने की आज आवश्यकता है। थाणे में संघ-स्वयंसेवकों के शिविर में उन्होंने यही अंतिम मार्गदर्शन किया था। उन्होंने सुझाव दिया था कि राष्ट्रजीवन में विविध कार्यक्षेत्रों में काम करने वाले कार्यकर्ताओं को चाहिए कि अपने-अपने कार्यक्षेत्र में समुचित पद्धति का निर्माण करते समय इसी एकता को, एवं दृश्य भेदों को गौण मानने के विचार को आधार बनायें। क्रांतदर्शिता से उन्होंने बताया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था कि जिन लोगों में इस एकत्व का बोध नहीं और जो विभिन्न अवयवों को काँटछाँट कर एकरूपता (यूनिफार्मिटी) लाने का प्रयास कर रहे हैं, उन्हें कभी सफलता नहीं मिलेगी। ईसाई राष्ट्रों में उपासना-पद्धति समान, वेशभूषा, समान और रहन-सहन भी बहुत कुछ एकसा ही है, फिर भी वे एक-दूसरे से लड़ाइयाँ क्यों लड़ते रहते हैं? इस्लामी राष्ट्रों के संघर्ष में रक्तपात क्यों होता है? कहना पड़ेगा कि वहाँ एकरूता का कितना ही प्रयास क्यों न होता हो, मनुष्य मात्र को आत्मीयता के सूत्र में बाँधने का विचार नहीं है।

राजनीतिक सुविधा के लिए

उपासना-पद्धति की एकरूपता थोपने अथवा बाह्यतः दिखाई देने वाले किसी भी विभेद को नष्ट करने के लिए भारत ने कभी संघर्ष नहीं किया। उसके सारे संघर्ष हिंदू विचार को पैरों तले रौंदने वालों का आक्रमण समाप्त एवं परास्त करने के लिए थे। विविधता में एकता देखने के इस सिद्धांत के परिणामस्वरूप ही मनुष्य स्वयंप्रेरणा से दूसरों के सुख के लिए काम करता है; दूसरे मुनष्य भी मेरे ही रूप हैं इस आत्मीयता एवं ममता की भावना से उनके लिए कष्ट उठाता है। विविधता को बनाये रखते हुए मनुष्य की चेतना का विकास कर उसे ऊँचा उठाने का सामर्थ्य आज विश्व के अन्य किसी चिंतन में दिखाई नहीं देता। यह भव्य विचार हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व का एक अभिन्न अंग है। इसके बोध को तीव्रतम करने से ही हिन्दुओं एवं हिंदू राष्ट्रजीवन में आयी विकृतियाँ दूर की जा सकेंगी। कुछ लोगों ने मत व्यक्त किया है कि हिंदुस्थान कभी एक राष्ट्र था ही नहीं और ब्रिटिश शासन-काल में एक राजनीतिक सत्ता के अधीन होने के कारण ही यहाँ एक-राष्ट्रीयता की भावना जन्मी। 'निर्माणाधीन राष्ट्र' (अ नेशन इन द मेकिंग) - ऐसा उल्लेख राजनीतिक नेताओं ने किया है। किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऐसी भाषा बोलने वाले केवल राजनीतिक एकता पर ही बल देते हैं। राष्ट्रनिर्माण को मात्र एक राजनीतिक घटना मानकर ही वे चलते हैं। भारत को वे 'राष्ट्रराज्य' (नेशन स्टेट) के रूप में ही पहचान पाते हैं। किन्तु वे भुला देते हैं कि यहाँ संस्कृति की एकता पर आधारित एक प्राचीन राष्ट्र है और केवल राजनीतिक एकता पर आधारित राष्ट्रधारणा यहाँ लागू नहीं होती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति की सुविधा के लिए वे इस वस्तुस्थिति की उपेक्षा करते हैं कि हमारे राष्ट्र के राष्ट्रीयत्व का अधिष्ठान हिंदू चिति, हिंदू संस्कृति एवं हिंदू मूल्य-व्यवस्था (वैल्यु सिस्टम) है और इस आधार को पक्का रखने से ही भारत की राष्ट्रीय एकात्मा को एक सुनिश्चित आशय प्राप्त होता है। वस्तुतः लोकमान्य तिलक ने तथा कुछ विदेशी विचारकों एवं राजनीतिज्ञों ने भी इस बात को स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, लोकमान्य तिलक ने कहा है - 'हिंदुस्थान में तीन-चार धर्म प्रचलित होने के कारण हिंदू धर्म राष्ट्रीयत्व का आधार नहीं है, ऐसा मानना भूल है। हिन्दुओं के इतने विशाल समुदाय को एकता में बाँधने वाला बंधन हिंदुत्व का ही है। इस बंधन को नष्ट करना या उसकी उपेक्षा करते हुए उसे सुदृढ़ न रखना हिन्दुस्थान की प्रजा को रेत के कणों की भाँति इतस्ततः बिखरने के लिए छोड़ने के समान है। हिंदुत्व को इस प्रकार त्यागने से राष्ट्रीय दृष्टि से आगे चलकर अच्छे परिणाम निकलेंगे, यह विचार कोरा भ्रम है। हिंदुत्व के कारण एक सूत्र में बँधे समाज के इस बंधन को बनाये रखना राष्ट्रीय दृष्टि से अधिक सुविधापूर्ण, सहज संभव एवं आवश्यक है। सारांश यह कि कोई भी सामाजिक सुधार लाते समय राष्ट्रीयत्व की इस नीति को ध्यान में रखकर ही प्रयास करना चाहिए।'' लोकमान्य तिलक के सारे लेखन से स्पष्ट है कि हिंदू जीवन-दृष्टि और जीवन-प्रणाली पर वे बहुत बल देते थे। प्रख्यात दार्शनिक एनी बेसैण्ट का यह निवेदन तो सुपरिचित ही है कि ''इंडिया अलोन कैन सेव इंडिया एंड इंडिया एंड हिन्दुइज़्म आर वन' (भारत ही भारत की रक्षा कर सकता है और भारत एवं हिन्दुत्व एक ही है) जस्टिस वुड्राफ ने पश्चिमीकरण के अंग्रेजों द्वारा किये जा रहे प्रयासों की प्रतिक्रिया अंकित करते हुए कहा था - 'नेशनलिज़्म टर्न्ड डिफायण्टली हिंदू' (राष्ट्रवाद आशा के विपरीत हिन्दू हो गया)

इन सब लोगों के मन में हिन्दुत्व, हिंदू संस्कृति कहते समय जो मूल्य अभिप्रेत थे उनमें विविधता को पचाकर एकता के आंतरिक सूत्र को अक्षुण्ण रखने वाले हिंदू विचार को अग्रस्थान प्राप्त था, इसमें कोई संदेह नहीं। उनका सर्वसम्मत एक ही विचार रहा है कि भौतिक जीवन में हुए परिवर्तन इस एकता के लिए बाधक नहीं होते। अर्थात् विविधता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
से विभूषित इस विस्तीर्ण भारतीय भूखंड में गहरे पैठे अध्यात्म द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत – 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' को मान्यता एवं तज्जन्य मूल्य-व्यवस्था निर्मित करने वाले सांस्कृतिक प्रवाह का स्वीकार ही हमारी राष्ट्रीय एकता का आधार है। हिंदू समाज ने इस संस्कृति का संवर्द्धन किया है। उस पर हुए आघातों का प्रतिकार किया है। आज भी राष्ट्र का अस्तित्व इसी समाज के साथ जुड़ा हुआ है। यही हिंदू राष्ट्रविचार है। अर्थात् हिंदू राष्ट्र कहने के बाद हमारी उपासना-पद्धतियों, वेशभूषाओं, खानपानों, राजनीतिक दलों, आर्थिक असमानताजनित भेदों, व्यवसायों अथवा जात-पाँत का विचार नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारतवर्ष को अपनी बाँहों में समा लेने वाले एकात्म सांस्कृतिक प्रवाह का ही संदर्भ विशेषतः मन में आता है। यही हिंदू समाज का बड़ा बलस्थान है। इसे खोकर जो लोग कहते हैं कि क्रिश्चियन, मुसलमान या कम्युनिस्टों की भाँति बाह्य एकरूपता का आग्रह रखने से राष्ट्र के राष्ट्रीयत्व को ध्वस्त करने में कारण बनेंगे। कम से कम अब तक तो इन विजातीय विचारों का प्रभुत्व सामान्य भारतीयों के मानस पर नहीं हो पाया है। उनकी श्रद्धा अटूट है। अपने पर 'आर्थिक प्राणी' की अथवा एक ही प्रेषित व एक ही साम्प्रदायिक ग्रंथ के अनुयायी होने की मुहर लगवाने के लिए वे तैयार नहीं हुए हैं।

आत्मिक भुखमरी

भारत के पहले प्रधानमंत्री पं. नेहरू को भूले से भी कोई 'हिंदुत्ववादी' नहीं कहेगा। हिंदू अस्मिता को जाग्रत करने के प्रयासों की, 'साम्प्रदायिक' कहकर, उन्होंने अवहेलना ही की है। काँग्रेस के मूर्द्धन्य नेताओं में से उन्हीं पर युवावस्था से ही समाजवाद की मोहिनी छा गयी और सेक्यूलरिज्म का सर्वाधिक विडम्बन उन्हीं के हाथों हुआ है। उन्होंने पश्चिमी ढंग की भौतिक सम्पन्नता की चकाचौंध निर्मित करने का प्रमुख लक्ष्य सामने रखकर पंचवर्षीय योजनाएँ यहाँ चलायीं। किन्तु उनके जैसा मनुष्य भी कभी शांत चित्त से गहराई में जाकर विचार करने बैठा तो उसे लगता था कि हिंदू अध्यात्म-चिंतन का आधार लेकर राष्ट्र के नाते अपनी विशेषताओं को बनाये रखना चाहिए। दबाये गये संस्कार चित्त के ऊपरी तल पर आ जाते थे। 1957 में पं. नेहरू की उपस्थिति में दिल्ली में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
प्रदीर्घ चर्चासत्र का आयोजन डॉ. संपूर्णानंद ने करवाया था। उसमें भारत की सम्यक् नीतिगत दिशा क्या हो, इस पर प्रख्यात लोगों ने विचारमंथन किया था। सारी चर्चा का सार बताने वाली एक टिप्पणी पं. नेहरू ने स्वतः तैयार की थी। उसमें उन्होंने कहा था - 'देश में भौतिक सुधार लाने की धुन में हमने लोकजीवन के आध्यात्मिक अंग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। मानव जीवन का एक लक्ष्य होता है। उसका कोई अन्तिमोद्देश्य भी है। जिसके लिए मनुष्य को जीना और आवश्यकता पड़ने पर प्राण तक न्यौछावर करना चाहिए, जीवन के ऐसे तत्त्वज्ञान एवं उसके आध्यात्मिक अधिष्ठान को पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता है। हम लोग कल्याणकारी राज्य की बात तो करते हैं और लोकतंत्र तथा समाजवाद की जयजयकार भी, किन्तु इन बातों का निश्चित एवं असंदिग्ध अर्थ हमारे सम्मुख स्पष्ट नहीं होता। लोकतंत्र और समाजवाद केवल साधन हैं। वे साध्य कदापि नहीं हो सकते। हमारे सामने खड़ी समस्याओं का विचार करते समय हमें आँखों के सामने सदैव मानव जीवन के वेदांतगत उस उद्देश्य को रखना चाहिए जिसकी नींव पर सारा संसार खड़ा है।''

किन्तु इस स्वरूप के उद्देश्य को सामने रखकर 'संपूर्ण मानव' के लिए पं. नेहरू ने नियोजन नहीं किया। उनके बाद भी हमारा नियोजन पूर्णतः आर्थिक ही रहा। समाजवाद का आशय तो और भी धूसर हो गया। जीवन का ताना-बाना अर्थ और काम के ही चारों ओर बुना गया। अर्थसत्ता और भोगासक्ति इतनी प्रभावी बन गयीं कि विकास का गुणात्मक आधार ही आज धँस गया सा लगता है। लोकजीवन दिशाहीन हो गया है। आय-व्यय का पैसा ही राष्ट्र-निर्माण का माप बन गया है। हिंदुस्थान की दुर्धर आत्मिक भुखभरी के लिए मुख्यतः नेता लोग ही उत्तरदायी हैं। शिक्षण जैसे नितांत आस्था के क्षेत्र में आज जो अराजकता सी फैल गयी है, उसे देखकर तो यह हृदय विदारक अनुभव होता है कि राष्ट्रीय चिति और संस्कृति की अवहेलना करने से राष्ट्र किस प्रकार फिसलता ही जाता है। राष्ट्रीय जीवनलक्ष्य के अनुसार मानव जीवन की रचना करने के कर्तव्य से समाज-नेताओं के चूक जाने के कारण समाज में कर्मचेतना भी दुबली एवं दिशाहीन हो गयी है। विजातीय चिति एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
संस्कृति हम पर शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक आक्रमण करती जा रही है। इस त्रिविध आक्रमण से हमारा संरक्षण करने वाली सामूहिक संगठित क्षात्रशक्ति - विराट् - की अभिव्यक्ति दूभर होती जा रही है। विविधता में एकता के रम्य दर्शन के स्थान पर विविधता में विघटित का भयानक दृश्य दिखाई दे रहा है। उत्तर-पूर्व भारत की संकटपूर्ण अवस्था, पंजाब में 'खालिस्तान' वादियों द्वारा किया जा रहा हिंसाचार, अन्य अनेक 'स्थानों' के साथ ही बीच-बीच में सुनायी देने वाली 'दलितस्थान' की भाषा और लोकजीवन में उत्पन्न हुई विफलता-जनित उदासीनता, ये सब विविधता में एकता के जीवनरस का राष्ट्र के अंगोपांगों में अभिसरण न होने के ही प्रमाण हैं। नाना प्रकार की व्यवस्थाओं (इन्फ्रास्ट्रक्चर्स) का हमने केवल स्थूल विचार किया, किन्तु यह बोध नहीं रखा कि वे व्यवस्थाएँ अंततः किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हैं? विविधता की भावना का समादर करने के लिए हमने भाषावार प्रांतरचना की, किन्तु उसके साथ ही एकता के सूत्र पर बल न देने के कारण अतिवादी अभिनिवेश, वैमनस्य और प्रादेशिक स्वार्थ का अनर्थकारी कालकूट ही उस राज्यरचना से हमारे हाथ लगा। हर बात में हम ऐसी ही ठोकरें खाते हैं। फिर भी हमारे मूल आदर्शात्मक स्रोत की ओर मुड़ने की सद्बुद्धि अब भी नहीं जाग पायी है।

○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10

'यह विश्व ही मेरा घर'

पं. दीनदयाल जी द्वारा स्वतंत्रता के बाद प्रस्तुत राष्ट्रचिंतन की मौलिकता उसके विशुद्ध हिंदू स्वरूप में समायी है। हिंदू राष्ट्र का अर्थ ही हिन्दुस्थान में प्रदीर्घ कालखंड में परिपक्व मानवीय जीवनादर्श एवं उसके अनूकूल जीवनपद्धति अंगीकार करने वाला राष्ट्र है। जिन्होंने इस जीवनादर्श को सही रूप में नहीं पहचाना है, वे ही 'हिंदू राष्ट्र' शब्द सुनकर चौंकते हैं। इस शब्दप्रयोग में उन्हें संकीर्णता दिखाई देती है। वे प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं कि यह कुछ गयी-बीती एवं रूढ़िवादी बात है। कुछलोग सुविधापूर्वक उपदेश देते हैं कि हिंदू शब्द को छोड़िए और भारत तथा भारतीय शब्दों का उपयोग कीजिए। कुछ लोग तो यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि अपने आपको हिंदू तथा अपने राष्ट्र को हिंदू राष्ट्र कहने से विशाल मानवतावाद के मार्ग में रोड़े खड़े हो जाते है। बड़े चाव से मुँह पर यह आक्षेप भी दे मारा जाता है कि आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के कारण सारा जगत् जब निकट आ रहा हो, तो यह हिंदू राष्ट्र का इकतारा किसलिए बजाया जा रहा है? किन्तु यह मानना कि इन सब लोगों को मानव-एकता के प्रति बड़ी ही आंतरिक लगन हो आयी है, भ्रम होगा। इनमें बहुतांश लोगों को मानवता की तो क्या, कष्ट में पड़े अपने पड़ोसी तक की सुधि सामान्यतः नहीं रहती। जातिगत हो, पंथगत हो, या प्रांत अथवा परिवारगत हो, इनके विचारों और प्रयासों की परिधि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत ही सीमित होती है। 'इंडियन' अर्थात् भारतीय, ऐसी परिभाषा प्रयुक्त करने के उपरांत ये लोग अपने आपको प्रादेशिक सीमाओं के अंदर बंद करके व्यापकता से मुख मोड़ लेते हैं। ऐसे लोगों की आँखें खोलने के लिए पं. दीनदयाल जी सरीखे विचारक ने पिण्ड से ब्रह्मांड तक आत्मिक विकास का क्रम प्रस्तुत करने वाले वैश्विक हिंदू जीवन-विचार का दर्शन कराया है। उन्होंने सप्रमाण यह दिखाया है कि हिंदू राष्ट्र का विचार संकीर्ण न होकर समूची मानवता, चराचर सृष्टि एवं अनंत कोटि ब्रह्मांड के साथ भी एकरूप होने की प्रेरणा देने वाला है। विश्व के अन्य आधुनिक कहलाने वाले राष्ट्रों की तुलना में हिंदू राष्ट्रजीवन की संकल्पना कैसे विश्वकल्याणकारी है, इसका भी निरूपण उन्होंने किया है। इस प्रकार के वैचारिक विवेचन की आवश्यकता आज भी समाज में नित्य अनुभव की जाती है, क्योंकि हमारे हिंदू समाज में विचारक कहलाने वालों के साथ सुसंवाद करने में एक कठिनाई बार-बार आती है। वह यह है कि हमारे विचारक अपने राष्ट्र और उसके विकास और पाश्चात्य राष्ट्रों व उनके विकास में पूर्ण समरूपता मानकर चलते हैं और यह भी मान लेते हैं कि उधर जो जिस क्रम से हुआ, वह इधर भी वैसा ही और उसी क्रम से हो गया है या होने जा रहा है। दोनों में कालखंड और प्रकृतिगत अंतर है, इसका विचार ये लोग करते ही नहीं।

आज प्रगत माने जाने वाले पाश्चात्य राष्ट्र चार-पाँच सौ वर्ष से अधिक पुराने नहीं हैं। इस अवधि मे बीसियों बार वे आपस में लड़ते रहे हैं। इनमें से अनेकों ने प्रजा के अधिकारों के लिए आंतरिक संघर्ष भी किये। अनेक राज्यक्रांतियाँ हुईं, औद्योगिक क्रांति भी हो गयी और अब प्रौद्योगिक क्रांति (टेक्नॉलोजिकल रेवोल्यूशन) के दौर से विश्व गुजर रहा है। इंग्लैण्ड, फ्रांस, पुर्तगाल आदि छोटे-छोटे राष्ट्रों ने विदेशों में अपने साम्राज्य बनाने का प्रयास किया। उन्होंने जहाँ लोगों को दासता में जकड़ा, वहाँ उनका अत्यधिक आर्थिक शोषण भी किया और अपनी सत्ता को स्थिर बनाने के लिए अपनी भाषा, सम्प्रदाय और संस्कृति को लोगों पर लादने का प्रयास भी किया। उन्होंने इतिहास को भी विकृत किया। 'रूल ब्रिटानिया रूल द वेव्स' एक साम्राज्यवादी अभिनिवेश ही था। उसमें श्रेष्ठत्व की भावना थी। इतिहास में हम यह सब पढ़ते हैं। भारतवर्ष भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डेढ़ हजार वर्षों पूर्व तक समृद्ध था। दक्षिण-पूर्व एशिया में हिंदू राजा थे और नित्य उत्कर्ष करने वाले राज्य भी। हिंदुस्थान का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चलता था। उससे भी प्राचीन काल में हिंदू विश्व भर में फैले थे। उस व्याप्ति के पदचिह्न सर्वत्र पाये जाते हैं। किन्तु हिंदुओं ने दूसरों को दास बनाने, उन्हें हीन मानने, उनका अमानुष शोषण करने, उपनिवेशवादी प्रवृत्ति प्रकट करने या अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का रक्त बहाने जैसी अभद्रताएँ कभी नहीं कीं। वे विश्व के देशों में केवल मानव-कल्याण का ज्ञान अपने साथ लेकर गये। उन्होंने लोगों को बताया कि उच्च कोटि का जीवन क्या होता है। हिंदू ऋषि, मुनि और संन्यासी श्रेष्ठ जीवनादर्श के वाहक थे। 'कृणवन्तो विश्वमार्यम्' उनका सांस्कृतिक संकल्प था। उसकी पूर्ति करने के लिए वे एक हाथ में तलवार और दूसरे में धर्मग्रंथ लेकर नहीं गये। किंतु इस प्रकार की प्रसारणशीलता के लिए मूल केन्द्र में आवश्यक शक्ति कालांतर में क्षीण हो जाने के बाद वह कार्य अपने आप सिमटता गया। अपनी परंपरा अपने ही देश में भी स्थिर रह पाएगी कि नहीं, ऐसी अवस्था आ जाने पर कछुए की भाँति एक संरक्षक कवच के नीचे हिंदुत्व सिमट गया और उसने आत्मरक्षा का प्रयास, जीवन-मरण के हठपूर्वक कठिन संघर्ष करते हुए, लगातार हजार वर्ष चलाये रखा। आज हमें 'पागलपन के से' प्रतीत होने वाले अनेक संकेत और कष्टप्रद लगने वाली अनेक प्रथाएँ इसी संघर्षकाल में केवल आत्मसंरक्षण की भावना से निर्मित हुई। कुछ विचारकों के अनुसार समुद्रगमन को वर्जित मानने की प्रथा भी शायद उसी समय चली हो, क्योंकि परदेश में जाने वाले हिंदू के सांस्कृतिक दृष्टि से निराधार बनने तथा सदा के लिए खो जाने की संभावना थी। उस कालखंड में प्रचण्ड पाशविक एवं कुटिल आघातों के कारण हिंदू समाज का ढाँचा चरमरा गया था। अनेक विकृतियाँ उसमें घुस गयी थीं। घर की स्वच्छता पर ध्यान देने के लिए अवकाश ही नहीं मिला। स्थिति इतनी बिगड़ गयी कि अनेक विकृतियों को हिंदू समाज की विशेषताएँ माना जाने लगा। भौतिक जीवन ही अवसन्न हो गया। उस विपरीत काल में भी सांस्कृतिक आदर्शों के ध्वज को धूल में मिलने न देने वाले महान राष्ट्र-पुरुषों की मालिका हमारी भूमि में उत्पन्न होती रही। वटवृक्ष को बहुत काटा-छीला गया, उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्मूल करने की चेष्टा भी अक्षरशः आसुरी प्रवृत्तियों ने की, किन्तु उसकी जड़े क्योंकि इस भूमि में बहुत गहरी गयी थीं, उसे थोड़ा-बहुत जीवनरस फिर भी मिलता रहा और वह आज भी खड़ा है। अनादि एवं सनातन धर्म में नाता बताने वाला समाज आज भी यहाँ बहुसंख्या में बना हुआ है। उसी समाज का यह राष्ट्र है। यह सामज पुनः संगठित और प्रभुविष्णु बन जाये तो क्या वह विश्व के साम्राज्यवादी पाश्चात्य राष्ट्रों की भाँति उत्पात करेगा? उसका राष्ट्रवाद क्या विश्व में अशांति-निर्माण करेगा? इस प्रसंग में अन्य यूरोपीय राष्ट्रों के उद्दण्ड एवं असहिष्णु राष्ट्रवादों की भाँति हिंदू राष्ट्रवाद को भी अनर्थकारी मानना, जो कुछ भी 'हिंदू' है- मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित है- उसके प्रति अपना घोर अज्ञान प्रकट करना है।

भय की छाया

कोई भी आधुनिक कहलाने वाली विचारधारा मानव-कल्याण, सुख एवं शांति की सुनिश्चित हामी नहीं भर सकती। प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर यह बात अब सिद्ध हो चुकी है। साथ ही यह भी सिद्ध हो गया है कि विश्व-मानव-समाज का राष्ट्र नामक घटक सदैव रहने वाला है। उसे नष्ट नहीं किया जा सकता। कम्युनिस्टों ने राष्ट्र एवं राष्ट्रीय भावना को अनावश्यक माना, अवांछनीय भी घोषित किया और संसार को केवल श्रमिकों तथा पूँजीपतियों के दो खेमों में ही बाँटने का प्रयास किया। इन दो वर्गों में संघर्ष खड़ा करने की भी चेष्टा उन्होंने की। मार्क्स ने विश्व में श्रमिकों की सर्वंकष निरंकुश सत्ता और श्रमिकों की एकता निर्मित करने पर बल दिया। किन्तु राष्ट्रवाद ने मार्क्सवाद को भारी पराजय दे दी। संसार से पूँजीपतियों के वर्ग को समाप्त कर वर्गविहीन और आगे चलकर राज्यविहीन मानव-समाज को उत्क्रांत करने की मार्क्स की परिकल्पना व्यवहार में जड़ पकड़ ही न सकी।पाश्चात्य राष्ट्रवादी चिंतन ने भी अंततः विश्व में क्या सुखनिर्मिति की है? प्रत्युत् विश्व आज एक भयानक भय की अँधेरी छाया में आ गया है। विश्व की महाशक्तियों में परमाणु-अस्त्रों की होड़ सी लग गयी है। इनमें कहीं संघर्ष ठन गया, तो अल्पावधि में ही समूचे प्रगत विश्व का संहार हो जायेगा, इसमें किसी को तनिक भी संदेह नहीं। नये आविष्कारों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षमता बहुत अधिक है। उनकी प्रविधि भी बहुत आगे बढ़ चुकी है। किन्तु इन आविष्कारों का उद्देश्य कौन निश्चित करेगा? किन निकषों पर इन आविष्कारों को परखा जायेगा? आज तो स्वयं वैज्ञानिक ही इसका निर्णय यन्त्रविदों और वैज्ञानिकों पर छोड़ने का विरोध करने लगे हैं। आविष्कारों पर मानव-कल्याण का गहन संस्कार न हुआ हो, तो उनके अधिकांश आविष्कार भस्मासुर की भाँति मानवता को ही निर्मूल करने में लग जाने की संभावना है। अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा में प्राणलेवा ईर्ष्या घुस आयी है। कृत्रिम मनुष्य के निर्माण के साथ ही प्रतिसृष्टि के निर्माण का हठ अनुसंधानकर्ताओं में प्रबल होता जा रहा है। सुख-साधनों का असीम निर्माण करते हुए भोगप्रधान समाजों की वासना की भूख को अधिकाधिक प्रदीप्त करने का प्रयास निरंतर चालू है। मनुष्य यंत्रों का दास बन रहा है और यंत्रोद्योग एवं भोगसाधन सारे पर्यावरण को प्रदूषित किये जा रहे हैं। अण्वस्त्रों की भाँति दूषित पर्यावरण भी भयावह बनता जा रहा है। भोग-प्रधान दृष्टि होने के कारण भूमि, भूगर्भ-तेल तथा धातुओं आदि सम्पत्ति का शोषण प्रौद्योगिक विश्व का मनुष्य बहुत तीव्र गति से कर रहा है। राष्ट्रों- राष्ट्रों में संघर्ष है, भूमि के साथ संघर्ष है, प्रकृति के साथ संघर्ष है, स्थापित तथा अस्थापित गुटों में, परिवारों में, सर्वत्र संघर्ष ही संघर्ष चलने के कारण सारा जीवन तनावों से भरा है। अन्तर्राष्ट्रीय शांति को चिरस्थायी बनाने के लिए दूसरे विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण किया गया। किन्तु आज उस संगठन में गुट हो गये हैं। शक्तिशाली राष्ट्र वहाँ भी मनमानी करने लगे हैं। अनेक स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सं.रा.सं. का भी उपयोग करने की उनकी दौड़धूप इतनी विलक्षण है कि उस संस्था का मूल उद्देश्य पूरा होने की कोई आशा शेष नहीं रही है। एक अनुमान के अनुसार दूसरे विश्वयुद्ध के बाद हुए स्थानीय सीमित युद्धों में मारे जाने वालों की कुल संख्या प्रत्यक्ष विश्वयुद्ध में मारे गये लोगों की संख्या से कहीं अधिक है। उसी प्रकार विश्व के विभिन्न राष्ट्रों की प्रयोगशालाओं में जो लाखों कुशल वैज्ञानिक अनुसंधान कर रहे हैं, उनमें से आधे वैज्ञानिक कम से कम समय में सहजता से अधिक से अधिक नरसंहार कर सकने वाले साधनों की गवेषणा में अपना बुद्धिसर्वस्व लगा रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध स्वरूपों का संघर्ष ही जीवन है, ऐसी मान्यता वाली विचारधारा से बनी मनोभूमिका से इससे भिन्न कुछ निष्पत्ति होने की आशा ही व्यर्थ है।

हिंदू राष्ट्र का आशय

सारांश यह है कि संघर्षात्मक दृष्टि से ही जगत् की ओर देखने वाले इन विभिन्न राष्ट्रों की पंक्ति में भारत को भी गिनकर, हिन्दू राष्ट्र की बात करने वालों पर उन्हीं उद्देश्यों को थोपना नितांत विपर्यस्तता है। हिंदू राष्ट्र किस लिए चाहिए? हिंदू समाज सुसंगठित और समर्थ क्यों होना चाहिए? क्यों हिंदू राष्ट्रवाद आक्रामक और असहिष्णु नहीं बनेगा? हमें राष्ट्रवादी होने के स्थान पर मानवतावादी क्यों नहीं बनना चाहिए? आदि प्रश्नों की झड़ी लगाने वाले महाभाग बीसियों हैं। किन्तु वे विशुद्ध हिंदू जीवन-मूल्यों से परिचित हो जायें, तो अपने सारे आक्षेपों की व्यर्थता उनकी समझ में आ जायेगी। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, हिन्दुओं का सारा चिंतन परमोच्च सुखसिद्धि के लिए है। हिंदू सिद्धांत का कहना है कि यह सुख बाह्य विषयों से नहीं मिल सकता। वह आत्म-दर्शन में समाया होता है। इसके लिए समूचे जीवन को ईश्वराभिमुख बनाना चाहिए। हिंदू ऋषियों द्वारा जगाया गया बोध यही है कि चूँकि दैवी गुणसंपदा को अपने व्यवहार में उतारे बिना ईश्वरानुभूति नहीं होती, वे गुण अपने अंदर लाने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए। हिंदुओं की श्रद्धा है कि यह चराचर सृष्टि ईश्वर का ही व्यक्त रूप है। अतः प्रकृति पर 'विजय' प्राप्त (Conquest of Nature) करने की उजड्डता की बात करना हिंदुओं को स्वीकार नहीं। वे तो मुनष्य और प्रकृति की परस्पर पूरकता पर बल देंगे। सृष्टि में परमात्मा ने जो अद्भुत परस्पर पूरकता निर्मित कर रखी है, उसका बोध हिंदू व्यक्ति अपने मन में जगा लेगा। हिन्दू दृष्टि विश्व में संघर्ष से नहीं, समन्वय से विकास करने की है। अतः विभिन्न राष्ट्रों या राष्ट्रगुटों में सदैव संघर्ष की स्थिति हिंदू भला क्योंकर चाहेगा? कदापि नहीं। प्रत्येक राष्ट्र की सहज गुण-विशिष्टता भिन्न रह सकती है। उनके जीवनलक्ष्य भी भिन्न हो सकते हैं। अपनी-अपनी विशेषताओं को नष्ट करने की बात हिंदू कदापि नहीं करता। किन्तु राष्ट्र ही मानवसमाज का घटक है, यह बात गृहीत मानकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार में परस्पर पूरकता लानी चाहिए। सृष्टि में व्याप्त विविधता को नष्ट न करते हुए उसके मनोहारी अस्तित्व को बनाये रख कर विश्व को शांतिमय, संघर्षरहित और सुखपूर्ण बनाना चाहिए। यही हिंदू राष्ट्र के व्यवहार का प्राकृतिक आधारभूत सूत्र रहेगा। अंततः हिंदू राष्ट्र के निर्माण का भी अर्थ क्या है? यही कि अपने राष्ट्र का उसकी सभी विशेषताओं के साथ पुनरुत्थान करना। कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा लाकर जोड़े गये कुनबे को राष्ट्र कहना तर्कसंगत नहीं है। वहाँ विकास की संभावना नहीं होती। सुख की अनुभूति भी नहीं की जा सकती है। और, जिसमें विकास नहीं, सुख की अनुभूति नहीं, वह भी क्या कोई जीवन है?

इसीलिए सम्पूर्ण विश्व के साथ सुसंवाद रखने वाला जो विकासक्रम हिंदू चिंतन एवं जीवनपद्धति को मूलतः अभिप्रेत है, उसका ठीक से सही आकलन कर लेना चाहिए। इस विकासक्रम की, मनुष्य को ऊपर के स्तर पर ले जाने वाली तथा उसके जीवन की सुसंवादिता को बिगाड़े बिना उसे विशाल बनाने वाली अनेक सीढ़ियाँ होती हैं। हम पहले एक व्यक्ति होते हैं। व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। अनुभव यह है कि हर व्यक्ति के गुणधर्मानुसार उसका विकास होने से ही सुख मिलता है। सर्वत्र व्यक्ति का विकास एक ही रीति से नहीं हो सकता। सबकी आकलन-क्षमता एक सी नहीं होती और विकास के विभिन्न स्तरों पर लोग होते हैं। जिसकी जैसी और जितनी मानसिक, बौद्धिक तथा शारीरिक क्षमता हो, वैसा ही मार्ग उसके लिए उपलब्ध होना चाहिए और मानव-विकास की एक से एक बढ़कर अवस्था तक उसे ऊपर उठाना चाहिए। इसीलिए हमारे संतों ने कहा है - ''अधिकार जैसा, उपदेश वैसा।'' उसका अर्थ भी यही है। हम दखेते ही हैं कि 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।' उपासना सगुण हो या निर्गुण, दोनों ही ले जाती हैं एक ही गन्तव्य तक। इसीलिए हिंदू चिंतन ने किसी पर भी विशिष्ट उपासना-पद्धति बलात् थोपना विहित नहीं माना है। प्रत्युत् यहाँ की परंपरा रही है कि प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अपनी रुचि के अनुसार उपासना करते हुए अन्य उपासना-पद्धतियों के प्रति आदर रखे। उपासना-पद्धति के बारे में हमारे समाज में असहिष्णुता कभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं रही, आज भी नहीं है, क्योंकि समाज के व्यक्तियों की प्राकृतिक गुणभिन्नता हमने मान्य की है। हमारा जीवन-दर्शन कहता है कि बाह्य एकरूपता में सुख नहीं, आनंद नहीं, न ही प्राकृतिक विकास है।

अब यह जो व्यक्ति अथवा 'मैं' है, उसे सदैव आस-पास के लोगों में रहना पड़ता है। शैशव में माता-पिता, भाई-बहिन, अन्य आप्तजन आदि पारिवारिक जीवन उसके चारों ओर रहता है। फिर पाठशाला या अड़ोस-पड़ोस के मित्र उसके संपर्क में आते हैं। उनके साथ मन का मेल जुड़ने पर उसे आनंद होता है। तो, इस सुसंवाद में व्यक्ति, परिवार, मित्र सब होते हैं। उनमें कोई संघर्ष नहीं होता। इस प्रकार 'मैं' का यह एक प्रकार से आंतरिक विकास होता है। इसी क्रम से चारों ओर के समाज और राष्ट्र तक मनुष्य के आंतरिक बोध का विकास होता जाता है। व्यक्ति के बिंदु से प्रारंभ होकर राष्ट्र तक पहुँचा यह मंडल कहीं भी भंग हुए बिना अपने अंदर समाज, परिवार एवं व्यक्ति के मंडलों को समा लेता है। इसे ही हमारे यहाँ अखंड मंडलाकार जीवन-रचना कहा गया है। यहाँ पूर्व अवस्था का धागा टूटे बिना विकास है। राष्ट्र, समाज, परिवार या व्यक्ति में संघर्ष का भाव कहीं भी नहीं है। इसमें होता है राष्ट्र, उसका अभ्युदय, गौरव, राष्ट्र के लिए काम करने की भावना, दूसरों के सुख-दुःख का बोध और इन सबके साथ ही होता है व्यक्ति का स्वतंत्र एवं विकासोन्मुख अस्तित्व तथा परिवार के सम्पूर्ण जीवन की अनुभूति। राष्ट्र, समाज या परिवार के लिए कष्ट उठाने में व्यक्ति आनंद अनुभव करता है, क्योंकि व्यक्ति के अंदर के 'मैं' का सहज एवं यथाक्रम विकास होते-होते वह 'हम' की राष्ट्रीय भावना में परिणत हो जाता है। इसीलिए मनुष्य व्यक्तिगत अपमान को तो पी जाता है, किन्तु राष्ट्र के अपमान को वह सह नहीं पाता।

विश्वात्मकता की ओर उड़ान

विकास का यह क्रम राष्ट्र तक आकर वहीं रुक नहीं जाता। वहीं पर रुक जाने वाला राष्ट्रवाद असहिष्णु एवं आक्रामक हो जाता है। परिणामतः अपनी प्रणाली को दूसरों पर लादने और उसके लिए पाशविक सामर्थ्य का प्रयोग करने का प्रयास भी होता है। स्वार्थ के लिए दूसरों की सुख-शांति को नष्ट करने को यह असहिष्णु राष्ट्रवाद प्रोत्साहित करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। आक्रामक अहंकार उपासनामार्ग का हो या राष्ट्रीय श्रेष्ठता का, संघर्ष का कारण बन जाता है। दूसरों को झुकाकर अपने अधीन बनाने की सारी दौड़धूप इसी अहंकार की तृप्ति के लिए होती है। अंग्रेजों ने हिंदुस्थान पर अपनी सत्ता स्थापित करने के बाद यही डींग हाँकी थी कि यहाँ के काले लोगों को सुधारने का दायित्व उनके सिर पर है! उन्होंने विश्व में यह आभास उत्पन्न करने की चेष्टा की कि अज्ञानी, अंधश्रद्धा वाले, मलिन जीवन जी रहे, जंगली रूढ़ियों के चंगुल में फँसे हिंदुओं को आधुनिक बनाने के लिए ही अंग्रेजों की सत्ता का अवतार हुआ है। मिस मेयो के 'मदर इंडिया' जैसे अनेक गटर-छाप ग्रंथ लिखे गये। हिंदुओं के इतिहास की जान-बूझकर विडम्बना की गयी। इसमें ब्रिटिशों की शोषण-नीति, स्वार्थ और अवास्तविक अहं भावना थी। पूँजीवादी अमरीका एवं साम्यवादी रूस की आज की नीतियाँ भी इसी ढर्रे की हैं। इस्लामी पुनरुज्जीवनवाद की भी यही भूमिका है।

किन्तु हिंदू चिंतन राष्ट्र को मानव-विकास की प्रक्रिया में एक अपरिहार्य सीढ़ी मानता है। अपनी मातृभूमि, उस भूमि पर रहने वाला समाज, संस्कृति आदि बातें किसी की भी समझ में आने वाली है। विश्व का आकलन इतनी सहजता से नहीं हो पाता। राष्ट्र उसके लिए अनुभव की जा सकने वाली एक वास्तविकता (Reality) होती है किन्तु इसी समय मानव-एकात्मता के आध्यात्मिक सत्य का संस्कार भी उस पर होता जाये तो 'मैं' का विकास मानवता का कल्याण करने की दिशा में होता है। अन्य राष्ट्रों के मानवों के साथ संघर्ष की भावना को मन में प्रश्रय नहीं मिलता, प्रत्युत् उनसे भी अपनी भाँति सुख-शांति प्राप्त करने के लिए पूरक योगदान कराने का संकल्प चित्त में उदित होता है। विश्व के राष्ट्र-समूह में समन्वय एवं सहयोग जगाने की भावना उत्पन्न होती है। व्यक्ति एवं समस्त मानवता की आत्मिक समानता के मन पर अंकित सूत्र के कारण ही विश्वबंधुत्व की यह भावना जीवित रहती है। हिंदू राष्ट्र और एक ही चेतना की सर्वव्यापकता के संस्कार अभिन्न होते हैं। विकास की हमारी उड़ान अंतर्राष्ट्रीय सीढ़ी पर भी रह नहीं जाती। वह उससे भी आगे जाती है। केवल मानवता की सीमा को वह पार कर जाती है और चराचर सृष्टि के साथ तन्मयता अनुभव करने की प्रेरणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
देती है। जड़-अजड़, चेतन-अचेतन, आदि सारी सृष्टि या ब्रह्मांड के साथ एकरूपता और तादात्मय इस सीढ़ी पर प्राप्त होती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अथवा 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' की कल्पना कितनी भव्य है! तदनुसार जीवन जीने वाले मुनष्यों की मालिका संन्यासियों के रूप में भारत में सदैव उत्पन्न होती रही है। यह हिंदुओं को मुग्ध करने वाली भावना है। इससे भी परे जाकर समस्त चराचर सृष्टि के साथ एकरूपता का साक्षात्कार करने वाले महात्मा गण भी यहाँ हो गये हैं।

यह विश्व ही मेरा घर। ऐसी जिनकी मति सुस्थिर।
किंबहुना चराचर। स्वयम् हो गया।

ज्ञानेश्वर महाराज की ये पंक्तियां इसकी साक्षी हैं। विचार की इससे भी आगे की एक सीढ़ी हिन्दू चिंतन के उत्कर्ष में आती है। वह है मनुष्य को परमेष्ठीरूप बनाने वाली। यह सर्वव्यापक परमात्मा तत्त्व व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण सृष्टि तक प्रत्येक अणुरेणु को व्यापने वाला है।

गगन में विचरता है अणुरेणु जो भी।
बिना राम के है न रीता कहीं भी।।

इन शब्दों में समर्थ रामदास ने इसी हिंदू चेतना को शब्दरूप दिया है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व सृष्टि हो या न हो, यह परब्रह्म सदैव रहता ही है। वहाँ सारी वृत्ति-प्रवृत्तियाँ शांत हो जाती हैं।

बिना सामर्थ्य के प्रभाव नहीं

'हिंदू' शब्द द्वारा विकासक्रम का यह बोध जागता है। इस विकासक्रम को न मानने वाले हिंदू राष्ट्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। किंबहुना, इस विकासक्रम का ज्ञान विश्व को देने, उससे प्रत्यक्ष में लाने की अनुभवसिद्ध कार्यप्रणाली बताने, और बिना किसी भेदभाव के संपूर्ण मानवता को सुखशांति का वरदान देने का प्रयास करने के लिए ही भारतवर्ष जीवित है। इस अमृतमय ज्ञान और उसके वितरण का जीवनकार्य (Mission) भगवती प्रकृति द्वारा भारत के भाग्य में न दिया होता तो अनादि काल से आज तक एक सनातन राष्ट्र के रूप में भारत के टिके रहने का कोई कारण ही नहीं था। भारत के बारे में आक्रामक या संहारक, शोषक या साम्राज्यवादी, संघर्षाभिमुख या विभेदकारी आकाँक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
का सन्देह किसी के मन में नहीं उठना चाहिए। हिंदू राष्ट्रवादियों के बारे में ऐसा सन्देह उपस्थित करने वालों को एक तो यहाँ के राष्ट्रस्वरूप के बारे में कोई ज्ञान नहीं होता, या उनके मन में कुछ न कुछ स्वार्थ छिपा होता है। हिंदू चिंतन यथार्थ में मानव-कल्याण का ही चिंतन है। रूढ़ अर्थ में हिंदू नाम से पहचाने जाने वाले समाज ने इस चिंतन एवं आदर्श का संरक्षण एवं संवर्धन किया है। इसीलिए उसे हिंदू चिंतन कहा जाता है। ऐसे हिंदुओं का संगठन करने या हिन्दू राष्ट्र का अभ्युदय करने के कार्य को भी स्वार्थी, संकीर्ण या संघर्षाभिमुख मानना सर्वथा गलत एवं अज्ञानमूलक होगा।

किन्तु भारत को अपना जीवनकार्य भली-भाँति पूरा करना हो, तो एक व्यावहारिक सत्य को भुलाने से काम नहीं चलेगा। विश्व में राष्ट्रों-राष्ट्रों के बीच होने वाले व्यवहार में सदैव अनुभव किया जाता है कि ऐसे राष्ट्रों का, जो बलशाली हों, समृद्ध हों तथा दूसरों को सहारा देने की क्षमता रखते हों, अनुसरण अन्य लोग करने लगते हैं। आज विश्व में भारत के शब्दों को कोई गंभीरता से नहीं लेता तो इसका कारण भारत की भौतिक दुर्बलता में खोजना होगा। पाश्चात्य राष्ट्रों ने विज्ञान, प्रौद्योगिकी, अनुसंधान एवं शस्त्रसामर्थ्य के क्षेत्रों में ऊँची उड़ान जिस कालखंड में भरी, उसमें भारत पराधीन था। स्वाभाविकतः भारत में अभ्युदय के प्रयास प्रारंभ होने में विलंब हुआ, क्योंकि तब भारत विदेशियों द्वारा शोषित था, पीड़ित था। वह जीवनमरण के संघर्ष में उन दिनों लगा हुआ था। खैर, अब इन क्षेत्रों में भी भारत ने अपनी प्रतिभा से पर्याप्त प्रगति की है और स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद गुणात्मकता को आगे बढ़ने के मुक्त अवसर और प्रोत्साहन मिले होते, तो आज की अपेक्षा भी कहीं अधिक प्रगति हो सकती थी। इस संबंध में भारत की अंगभूत क्षमता के बारे में न पहले कभी सन्देह था, न आज है। किन्तु समस्या निराली है भारत में प्रौद्योगिकी व यंत्रविज्ञान आ गये। भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय भी कुछ बढ़ गयी। फिर भी जब तक भारत प्रभावी हिंदू राष्ट्र के नाते खड़ा नहीं होता, विश्व की राष्ट्रमालिका में अपने कार्य को वह नहीं कर पायेगा। जैसा कि अब तक अनेक बार कहा जा चुका है, यह कार्य है मानव जीवन के समग्र, सुसंवादी, परस्परपूरक एवं चरम विकास की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर ले जाने वाले सुखद आदर्श को विश्व के सम्मुख प्रत्यक्ष उदाहरण बनकर उपस्थित करना और विश्व इस आदर्श की उपेक्षा कर ही न सके, ऐसी अनुग्रह-निग्रहात्मक तेजस्विता राष्ट्र-जीवन में निर्मित करना। सदैव परायों का मुँह ताकने वाले, हीन भावना से ग्रस्त, कलह जर्जर एवं आत्मविस्मृत राष्ट्र में ऐसी शक्ति हो ही नहीं सकती। कंगाल, भिखमंगे, आत्मप्रतीतिशून्य एवं स्वत्वहीन राष्ट्र की बात का विश्व में कोई मूल्य नहीं होता। उसका भूतकाल कितना ही प्रदीर्घ एवं गौरवमय रहा हो, तंत्रविज्ञान कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, या वहाँ के लोग व्यक्तिगत दृष्टि से चाहे कितने ही सद्गुणसंपन्न क्यों न हों, ऐसे राष्ट्र के नागरिकों को संसार में सामान्य प्रतिष्ठा भी नहीं दी जाती। व्यक्तिधर्म, समाजधर्म तथा राष्ट्रधर्म के आदर्शों को व्यवहार में उतारते हुए यदि तेजस्वी रूप में हम विश्व के सम्मुख खड़े होते हैं, तभी हमारे मुख से निकलने वाले वेदान्त के शांतिपाठ का कोई मूल्य होगा। अन्यथा विचार और तत्त्वज्ञान कितना ही उच्च हो, भौतिक दृष्टि से प्रभावी राष्ट्र उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देते। वह सामर्थ्य हमारी मातृभूमि में जब तक था, तब तक तो हमारे हिंदू सन्यासी या सर्वसंग परित्यागी ऋषि भी संसार में निर्भयता से प्रतिष्ठा के साथ भ्रमण करते रहे। लोगों ने उनका सन्देश सुना। हिंदू जीवन कैसा होता है, उसका तत्त्वज्ञान क्या है, इसका अध्ययन करने के लिए विदेशों से लोगों का ताँता भारत में लगा रहा। आने वाला प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित हो गया। इन विदेशी प्रवासियों के अभिमत आज भी इतिहास में अंकित हैं। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, भारत को चाहिए कि एक हाथ में अपने अध्यात्म-ज्ञान को दृढ़ता से थामे और साथ ही दूसरे हाथ से अभ्युदय का उत्कट प्रयास करे। विश्व से जो भी बातें लेने योग्य हों, उनको अवश्य ग्रहण करें और हमारी पुरानी लौकिक व्यवस्थाओं में से अब त्याज्य प्रतीत होने वाली बातों को बेझिझक त्याग दें।

विश्वकल्याण का मार्ग

पं. दीनदयाल जी ने 'संगठन का आधार : राष्ट्रवाद' शीर्षक एक लेख लिखा था। उसमें से शक्ति-संपादन, अभ्युदय, हिंदूराष्ट्र विचार एवं विश्वकल्याण के बारे में गहन चिंतन का सार सूत्र-रूप में प्रकट करने वाली दो कण्डिकाओं को यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है, क्योंकि हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीय विचार एवं उसमें निहित वैश्विक भावना का उत्कृष्ट दर्शन उनमें किया जा सकता है। पंडितजी लिखते हैं-''इस प्रकार पाश्चात्य राष्ट्रवाद का उदय मन के पारस्परिक समन्वय से नहीं, प्रत्युत संघर्ष से हुआ है। उसने घृणा, विद्वेष एवं विनाश को ही जन्म दिया है। किन्तु भारत के राष्ट्रवाद का मूल्यांकन इसी आधार पर करना गलत होगा। भारत में राष्ट्रभावना का उदय स्वार्थ के लिए नहीं हुआ। भारतीय राष्ट्रवाद का विचार केवल सौ-दो सौ वर्ष पुराना नहीं है। वह हजारों वर्षों से चला आ रहा है। उसका आधार आपसी संघर्ष नहीं, समन्वय है; परस्परानुकूलता है। पाश्चात्यों की भाँति भारत में राष्ट्रीयता एक विशाल 'प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी' नहीं है जिसमें प्रत्येक नागरिक एक 'शेयरहोल्डर' (अंशदाता) के नाते अपने स्वार्थ के लिए ही कम्पनी से चिपका होता है। स्वार्थ के लिए तो डकैत भी एकत्रित होकर एक दूसरे से 'ईमानदारी' का व्यवहार करने लग जाते हैं। गिरहकट भी एकत्रित होकर आपस में आचरण के कुछ नियमों का पालन करते हैं। स्वार्थ के लिए विशिष्ट नियमों का पालन करते हुए निर्मित होने वाली ऐसी संस्थाओं एवं संगठनों की प्रेरणा ही अपने में भिन्न होती है। भारतवर्ष में ऐसा कभी नहीं हुआ। यहाँ तो मानव-कल्याण का एक व्यापक एवं उदार जीवनदर्शन साकार हुआ है। जीवन के इस समग्र चिंतन के कारण सबने सामूहिक जीवन को समान रूप में अनुभव किया। इसी आधार पर भारत में राष्ट्रजीवन का विकास हुआ। मानव जीवन के श्रेष्ठ सद्गुणों की आराधना करने का भाव कण-कण में झंकृत हो उठा। भारत के अंतरतम के शब्द निनादित हुए कि सृष्टि की प्रत्येक घटना में संघर्ष नहीं, परस्परपूरकता है। एक ही तत्त्व विविध रूपों में प्रकट हुआ है। इसीलिए इन सारी विविधताओं में भी एक ही आत्मतत्त्व को देखने वाला ही श्रेष्ठ है, वही आर्य है, मानव कहलाने के लिए पात्र है। ऐसे उन्नत व्यक्तियों के निर्माण में सहायक होने वाली व्यवस्था एवं नियम ही धर्म हैं। भारत में स्वार्थ को नहीं, समर्पण को मान्यता एवं प्रतिष्ठा मिली है। प्रतिक्रियात्मक विचारों के बजाय भावात्मक एवं रचनात्मक विचार यहाँ हुआ है। परस्परविरोध के बजाय परस्परपूरकता का मंत्र ही यहाँ गूँजा है। क्षमा, दया, अहिंसा, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य की महिमा यहाँ गायी गयी है। विभिन्न धारणाओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव-विकास की सीढ़ियाँ मानकर यहाँ एक सूत्र में गूँथा गया है। नाना सम्प्रदायों का यहाँ समादर हुआ है। एक ही सत्य के रूपों, उनके विभिन्न नामों एवं अंतिम एकमात्र सत्य तक पहुँचने की विभिन्न पद्धतियों को यहाँ स्वस्थ विकास के लिए न केवल अपरिहार्य, अपितु आवश्यक भी माना गया है। इसलिए केवल सहिष्णुता का ही नहीं, अपितु एकात्मकता की आराधना का बोध यहाँ जागा। भारत का यह राष्ट्रवाद प्राणिमात्र के बारे में कल्याण की भावना लेकर प्रकट हुआ है।

'इसीलिए पश्चिमी राष्ट्रवाद की भारत के राष्ट्रवाद के साथ तुलना करना ही अनुचित है। पश्चिम ने द्वैत के आधार पर संघर्ष के ढोल पीटे हैं तो भारत ने अद्वैत के आधार पर एकात्मता की मुरली बजायी है। हैं तो दोनों वाद्य ही, किन्तु दोनों की स्वरतरंगों में बहुत अंतर है। हमें इस अंतर को ध्यान में लेकर ही अपने राष्ट्रसंगठन का विचार करना चाहिए। यूरोप के देशों में राष्ट्रवाद के कारण विनाश हो गया, इसलिए भारत के राष्ट्रवाद को भी विनाशकारी बता देना दूध के जले द्वारा छाछ भी फूँककर पीने के समान है। जिन राष्ट्रों ने मानवता के लिए संकट उत्पन्न किये, अहित का काम किया, उनकी भाँति ही परिणाम हमारी राष्ट्रीयता के भी निकलेंगे, यह निष्कर्ष गलत है। यह केवल नारा लगाने की बात नहीं। भारत की राष्ट्रीयता का हजारों वर्ष का इतिहास इसी सत्य को प्रकट करता है। विश्व के इन देशों ने विगत हजार-पाँच सौ वर्षों में जहाँ भीषण विनाश के ही दृश्य उपस्थित किये, वहाँ अपने प्रदीर्घ इतिहास में मानव-समाज को पीड़ा देने वाला पाप भारत द्वारा किये जाने की एक भी घटना किसी पृष्ठ में नहीं मिलेगी। भारत का जो भी इतिहास है, वह संपूर्ण विश्व का मंगल करने की कामना का ही रहा है। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में उपलब्ध भारतीय इतिहास के अवशेष आज भी कण्ठरव से यही कह रहे हैं कि भारत ने प्राणिमात्र के कल्याण के लिए ही प्रयास किये हैं। अतः परस्परसंघर्ष, विद्वेष तथा विरोधात्मक स्पर्द्धा के आधार पर प्रकट होने वाले पश्चिमी राष्ट्रवाद के दुष्परिणामों से विश्व को बचाना हो तो भारत के स्वस्थ राष्ट्रवाद को ही संगठित एवं सक्षम बनाकर करना होगा, यही सत्य है और विश्वकल्याण का मार्ग भी।''

यह दावा करने का भी कोई कारण नहीं कि यह विचार केवल पं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीनदयाल जी के ही मन में आया। यहाँ के राष्ट्रजीवन तथा हिंदू तत्त्वज्ञान का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखने वाले भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। किन्तु वे यह असंदिग्ध शब्दों में नहीं कहते कि हिंदुओं की यह परंपरा ही यहाँ की राष्ट्रीय परंपरा है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत द्वारा अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर आग्रहपूर्वक प्रचारित विश्वबंधुत्व, विश्वशांति, विभिन्न जीवन-प्रणालियों का सह-अस्तित्व, पंचशील आदि परिकल्पनाएँ मूलतः हिंदू परंपरा में ही हैं। मुख में राम और बगल में छुरी, ऐसी दांभिकता भारत के आचरण में कभी नहीं रही। भारत की आवाज को आज अनसुनी किया जाता है और महाशक्तियाँ माने जाने वाले राष्ट्र विश्व को महाविनाश की खाई की ओर धकेले जा रहे हैं। इसका कारण यही है कि उनकी आँखों पर पड़ा स्वार्थ एवं मदांधता का पर्दा हटाने का सामर्थ्य एवं संगठन हमारे राष्ट्र-जीवन में नहीं है। यहाँ इतना आंतरिक विघटन, भ्रांतियाँ एवं आत्मविश्वास का अभाव है कि भारत के शब्दों का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ सकता। विघटन भी इसीलिए है, कि यहाँ का राष्ट्रीय कहलाने वाला नेतृत्व भव्य राष्ट्रीय हिंदू ध्येयवाद को निर्भयतापूर्वक राष्ट्र के सम्मुख रखने और उसके आधार पर राष्ट्र में नवचेतना फूँकने के लिए तैयार नहीं है। अपने आपको प्रगतिशील कहलाने वालों, सत्ता की राजनीति करने वाले स्वजनों तथा इस राष्ट्र को जर्जर बनाकर उसका एक-एक भाग डकार जाने की घात लगाये बैठे विदेशियों ने हिंदुत्व एवं राष्ट्रीयता को एक दूसरे से अलग कर दिया है। वैसा प्रचार और राष्ट्र के हिंदूपन की पहचान से इंकार करना ही उनके राष्ट्रवाद का उल्टा सूत्र हो बैठा है। ऐसे में राष्ट्र को प्रेरणा और सामर्थ्य प्राप्त हो भी तो कैसे? इसीलिए शासनबाह्य प्रयासों द्वारा हिंदुत्व और राष्ट्रीयत्व की अभिन्नता को जनमानस में जगाते हुए समर्थ समाज खड़ा करने से आगे चलकर शासन को भी इसी समाज का सुसंवादी प्रतिनिधित्व करना पड़ेगा। यह बात जितनी शीघ्र होगी, राष्ट्र और विश्व के भी हित में होगा।

समय की कठोर कसौटी

पं. दीनदयाल जी ने इसी प्रसंग में एक और महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किया है। विगत दो-तीन सौ वर्षों में प्राप्त अनुभव को ध्यान में लेने पर वह विषय और भी अधिक आत्मीयता का हो जाता है। वह विचार यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि विश्व में समाजरचना, अर्थरचना, शासन के नाना प्रकार के प्रयोगों, एवं भौतिक विज्ञान के नाम पर जो भी कहा गया है, उन सब में एक अनित्यता है। हजारों वर्ष के कालखंड को भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो ये सारे प्रयोग बुलबुला बनने और टूटने जैसे क्षणभंगुर लगते हैं। हिंदू समाजरचना के आधारभूत तत्त्व अवश्य ही स्थिर दिखाई देते हैं। कालावधि में समाजधारणा करने की उनकी क्षमता भी निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है। हजार-बारह सौ वर्ष में हिंदू समाज-जीवन की साफ-सफाई न की जाने के कारण वहाँ खरपतवार बढ़ गया है। बिना बहाव के एक ही स्थान में रुके हुए पानी में अशुद्धता एवं दुर्गन्ध भी उत्पन्न हो जाती है, कुछ ऐसा ही यहाँ भी हो गया है। अतः सफाई करना और काल संगत प्रवाहशीलता इस रुके हुए पानी में लाना आवश्यक हो गया है। किन्तु ऐसा करते समय हिंदू चिंतकों द्वारा बताये गये स्थायी तत्त्वों को छोड़ देना क्या लाभकर होगा? माओ के शासन में चीन में प्रस्तुत और अब अस्वीकृत तत्त्वज्ञान में क्या कोई स्थिरता थी? माओ का सिद्धांत अखंड क्रांति का था। क्रांतिकारी सत्ता में आ भी गये, तो उनमें भी अवगुण आ जाते हैं और वे प्रतिक्रियावादी बन जाते हैं। अतः माओ का कहना था कि उन्हें भी सत्ता से हटाने की नयी क्रांति करनी पड़ती है। इसे माओ ने सांस्कृतिक क्रांति का लुभावना नाम दिया था। किन्तु तीस वर्ष में इन उलटी-सीधी क्रांतियों की सहायता से चीन अपने सामाजिक जन-जीवन में क्या किसी सुख-कारी विकास की दिशा में आगे बढ़ पाया? वहाँ कृषि की दुर्दशा हो गयी। आज तो वहाँ के शासन को उन्हीं व्यवस्थाओं को, जिन्हें अपार मनुष्यहानि करते हुए भी माओ ने ध्वस्त करने का प्रयास किया था, फिर से स्वीकारना पड़ा है। कम्यूनों के कारण लोगों को भारी कष्ट और पीड़ा झेलनी पड़ी थी। अब फिर से लोगों को निजी सम्पत्ति और व्यवसाय के अवसर दिये जा रहे हैं। पं. दीनदाल जी तथा अन्य सभी विचारकों ने कहा है कि उन सिद्धांतों का सजग और सतर्क अध्ययन करना चाहिए जिनके आधार पर की गयी रचना पर्याप्त सुस्थिर रहती है तथा लोक कल्याणकारी एवं मानवहित के लिए पोषक सिद्ध होती है। मानव की विविध आवश्यकताओं तथा भोगों में डूब जाने के प्रति उसे रहने वाले आकर्षण के बीच समुचित संतुलन रखने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय विचारकों द्वारा बताये गये उपाय आज के 'ग्राहकवाद' से घिरे तथा मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष की पूर्णतः उपेक्षा कर यंत्रविदों की दासता में घिसते-घिसटते जा रहे समाजों के लिए उपकारक होंगे। भारत का यह योगदान बहुमूल्य है।

स्वामी विवेकानंद के जीवन का एक प्रसंग बड़ा ही उद्बोधक है। अमरीका में उनसे पूछा गया कि अमरीका भौतिक दृष्टि से समृद्ध है और भारत निर्धन, तो वहाँ सुख-समृद्धि से परिपूर्ण जीवन का निर्माण करने के लिए भारत को अमरीकी जीवनपद्धति क्यों नहीं अंगीकार कर लेनी चाहिए? इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया था - "मुझे कोई आपत्ति नहीं, किन्तु एक कठिनाई है। आपकी सभी पद्धतियाँ अभी प्रयोगावस्था में हैं। भारत एक प्राचीन राष्ट्र है। मैं मानता हूँ कि हमारी व्यवस्थाओं में कुछ विकृतियाँ, कुछ भ्रष्टताएँ और कुछ अवनति घुस आयी हैं। इन्हें सुधारना पड़ेगा। किन्तु हमने एक ऐसी समाजव्यवस्था उत्क्रांत की, जो हजारों वर्ष से सुस्थिर रही है और जिसने हमारे समाज की उत्कृष्ट धारणा की है। समय की कठोर कसौटी पर खरी उतरी हुई है वह व्यवस्था। उसको त्याग कर उसके स्थान पर किसी अन्य व्यवस्था को हमने स्वीकार करना हो तो वह दूसरी व्यवस्था भी समय की कसौटी पर उतनी ही खरी सिद्ध हुई होनी चाहिए। आपके द्वारा सूचित व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए मैं तैयार हूँ, किन्तु उस व्यवस्था को सफलतापूर्वक कम से कम 500 वर्ष कहीं पर अनुभव में आयी हुई होना चाहिए। कारण, इसमें राष्ट्र-जीवन का विचार होता है। मानव-जीवन का एक दिन राष्ट्रजीवन में मात्र एक क्षण के समान होता है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि आपकी आर्थिक व्यवस्था को कम से कम 500 वर्ष उचित परिणाम देना चाहिए। इतने समय तक वह निर्दोष सिद्ध हुई, तो उसके बाद हम भारतीय लोग उसे स्वीकार करने में किंचित् भी नहीं हिचकेंगे।" स्पष्ट है कि उपयोगी भौतिक विज्ञान कहीं से भी ग्रहण करने की इष्टता को स्वामी जी ने कभी अस्वीकार नहीं किया। टिकाऊपन और अनित्यता में रहने वाले इस अंतर को हमें ध्यान में रखना चाहिए और इस बात का विश्वास भी कि सामाजिक क्षेत्र में विश्व के लिए उपकारक होने वाला कुछ चिंतन भारत के पास है। कोई भी आकर जिसे प्रशंसापूर्वक देखे: ऐसा सुखद समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का रूप यहाँ खड़ा करना हमारा राष्ट्रीय दायित्व है। इसे पूरा करने के लिए अपने समाज को प्रेरित करना भी विश्व-कल्याण का ही काम है। मानव-जीवन में श्रेयस का दिग्दर्शन करने वाले वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत, आदि हिंदू साहित्य में कहीं पर भी यह उल्लेख नहीं मिलता कि यह विचार केवल हिंदुओं के लिए है या भारत अथवा भारत की किसी विशिष्ट जाति या सम्प्रदाय तक ही सीमित है। प्रत्येक स्थान में उल्लेख है मानव का; विचार किया गया है मानव का।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्।।

यह मंगल-कामना सबके लिए है। मनु ने यह विचार आत्मविश्वासपूर्वक रखा है -

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः।।
संत ज्ञानेश्वर ने श्री सद्गुरु-चरणों में यही प्रार्थना की है -
किंबहुना सर्वसुखी। पूर्ण होवोनी तिन्ही लोकी।
भजिजो आदिपुरुषी। अखंडित।।

उनके विशाल अन्तःकरण ने तीनों लोकों के सुख की कामना की है। समर्थ रामदास स्वामी ने मनोबोध किया अथवा अपने दासबोध में जीवन को सार्थक बनाने का मार्ग दिखाया है मनुष्यमात्र को। सभी संतों की बात यही होती थी। आज समस्या केवल इतनी ही है कि इन सारे विचारों की परम्परा को कौन आगे चलाये, कौन उसे परिपुष्ट करे और अपने आदर्श जीवन के माध्यम से कौन इसे विश्व के हाथों मे सौंपे।

हिंदू राष्ट्र आधारभूमि

स्पष्ट है कि मूलतः हिंदुओं का सारा जीवनविषयक विचार पूरी मानवता के परिप्रेक्ष्य में ही किया गया है। समग्र मानव का यह विचार तत्त्वतः बहुत कुछ स्थलकालातीत है। किन्तु दुर्भाग्य से इस विचार के प्रक्षेपण का, सारे संसार में इस वाणी को पहुँचा सकने वाला, शक्तिशाली केन्द्र आज कहीं भी दिखाई नहीं देता। इस विचार की अपनी भूमि में, जहाँ वह जन्मा और विकसित हुआ, अपने ही समाज में भी आज उपेक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जा रही है। उसके 'प्रतिक्रियावादी' एवं 'साम्प्रदायिक' होने का सर्वाधिक प्रचार किया जा रहा है। साम्राज्यवादी पाश्चात्यों ने श्रेष्ठता की भावना से प्रेरित होकर विकृत प्रचार किया तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु 'नात्मानमवसादयेत्' के गीता-बोध को ताक पर रखते हुए हिंदू समाज ने अपनी अवस्था 'आत्मैव रिपुरात्मनः' वाली बना ली, जिसे दूर करना ही आज की वास्तविक समस्या है। इस संदर्भ में श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी ने एक बहुत ही सुंदर कल्पना प्रस्तुत की है। उन्होंने कहा है - ''किसी भी अच्छे काम को एकदम सर्वत्र नहीं किया जा सकता। उसके लिए आधारभूमि (बेस ऑफ ऑपरेशन) की आवश्यकता होती है। हिंदुओं के, मानवकल्याण के लिए काम करना सिखाने वाले विश्वधर्म की आधारभूमि भारत अर्थात् यह हिंदूराष्ट्र है!'' श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी का एक भाषण 'हिंदुराष्ट्र की संकल्पना' शीर्षक वाली एक छोटी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ है। उस भाषण का अंतिम अंश यहाँ उद्धृत करने से हिंदू राष्ट्र और उसके वैश्विक कार्य का अन्योन्याश्रित संबंध पर्याप्त स्पष्ट हो जायेगा। श्री ठेंगड़ी ने कहा है-

''हिंदू राष्ट्र की हमारी संकल्पना यह है कि हिंदू संपूर्ण मानवता को गले लगाने वाला, पूरे विश्व का विचार करने वाला एवं विश्वधर्म का अनुयायी है। इस प्रकार संपूर्ण विश्व की दृष्टि से विचार करने पर हिंदू राष्ट्र का स्थान क्या रहेगा? समूचे इटली में राष्ट्रीय स्वराज्य की स्थापना करने के प्रयासों के लिए कार्यवाही का स्थान या आधारभूमि थी पिड्माण्ड। संपूर्ण जर्मनी में राष्ट्रीय स्वराज्य के निर्माण की आधारभूमि थी प्रशिया। सारे हिंदुस्थान में हिंदवी स्वराज्य की स्थापना की आधारभूमि बना महाराष्ट्र। उसी प्रकार संपूर्ण जगत् में विश्वधर्म की स्थापना करने के कार्य की आधारभूमि हिंदुस्थान होगा। यह है हमारी हिंदू राष्ट्र की संकल्पना। इसे ठीक से समझ लेने पर बाह्य वातावरण के कारण कोई वैचारिक संभ्रम नहीं उत्पन्न होगा।

''आज सामान्य हिंदू स्वकेन्द्रित हो गया है। उसे 'अहम्' के संकीर्ण घेरे से निकाल कर किसी उच्च घटक के साथ जोड़ने की दृष्टि से 'राष्ट्र' एक उपयुक्त एवं व्यवहार्य घटक है। किन्तु हमें यह कदापि अभिप्रेत नहीं है कि वह उसी एक घटक की परिधि में ही अपने आपको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंद कर ले। हमारा उद्देश्य है कि हिंदू संकल्पना के अनुसार उसकी जागृति का विकास विश्व के साथ एकात्मकता अनुभव करने तक विस्तृत हो जाये। जीवन के इस ध्येय को स्वीकारने वाले हिंदुओं का राष्ट्र-हिंदू राष्ट्र-ही प्रत्येक व्यक्ति को चरम विकास की ओर ले जाने वाले विश्वकल्याण के कार्य का प्रारंभिक केन्द्र बन सकता है। हिंदू राष्ट्र के जीवनकार्य (लाइफ मिशन) के बारे में यही दृष्टिकोण प्राचीन द्रष्टाओं से लेकर श्री अरविंद, श्री गुरुजी आदि आधुनिक द्रष्टाओं तक सभी ने हमारे सम्मुख रखा है। यही हिंदू का वास्तविक स्वरूप है।''

○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11

अल्पसंख्यकों की समस्या का हल

हिन्दू राष्ट्र के इस भावात्मक स्वरूप का दर्शन करने के बाद वस्तुतः हिंदू संगठन के बारे में किसी भी प्रकार का विपरीत विचार किसी के मन में आना नहीं चाहिए। किन्तु वैसा होता नहीं है। विचारों के इतने ऊँचे स्तर पर स्थित पं. दीनदयाल जी जिस भूतपूर्व जनसंघ दल के नेता थे, उस पर सांप्रदायिक दल (कम्यूनल पार्टी) का ठप्पा स्वयं पं. नेहरू जी ने लगा दिया था। उन्हीं की 'हाँ' में हाँ फिर बिल्कुल ग्रामीण अंचल तक मिलायी गयी। इसका कारण शायद यही था कि भारतीय जनसंघ के संविधान में 'एक भूमि, एक जन और एक संस्कृति' – अर्थात् भारतभूमि, उसे माता मानने वाला पुत्ररूप समाज और इस भूमि पर विकसित भारतीय अर्थात् हिंदू के नाम से विश्वभर में पहचानी जाने वाली संस्कृति – का उल्लेख था। जनसंघ के द्वार सभी के लिए खुले थे। किन्तु हिंदुस्थान के राष्ट्रीयत्व की यह भूमि-जन-संस्कृति वाली संकल्पना उसके हर सदस्य को स्वीकारनी पड़ती थी; उसे अपनी निष्ठा का विषय मानना पड़ता था। इस भूमि पर रहने वाला नागरिक होने मात्र की योग्यता सदस्यता के लिए पर्याप्त नहीं होती थी। दीनदयाल जी द्वारा संवर्द्धित जनसंघ इस प्रकार सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एवं हिंदू संस्कृतिरूप आत्मा वाले राष्ट्रीय विचार का दृढ़ पक्षधर होने के कारण ही शायद काँग्रेस के सत्ताधारी उसकी कठोर आलोचना करते थे। पं. दीनदयाल जी ने जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से विशुद्ध राष्ट्रभावना के संस्कार ग्रहण किये थे, वह संघ तो सत्ता की राजनीति से अलिप्त है और हिंदू समाज को संगठित करने का व्रत उसने पूर्णतः प्रकट रूप में स्वीकारा है। संघ का प्राणतत्त्व यही है कि यह हिंदू राष्ट्र है। शायद इसीलिए शासनकर्ताओं एवं अन्य तथाकथित प्रगतिशील 'सेक्यूलरिस्टों' ने संघ पर भी सांप्रदायिकता का ठप्पा मार दिया। पं. दीनदयाल जी से बार-बार पूछा जाता था कि आप हिंदू संस्कृति और हिंदू राष्ट्र की बात करते हैं तो फिर हिंदुस्थान में जो करोड़ों ईसाई और मुसलमान आदि अल्पसंख्यक हैं उनका आप क्या करेंगे? उनके लिए इस देश में कोई स्थान है या नहीं? कहीं उन सबको समुद्र में ले जाकर डुबो देने का तो आपका विचार नहीं है? सत्ताधारी एवं अन्य 'सेक्यूलर' कहलाने वाले लोग भय दिखाते थे कि हिंदू राष्ट्र का विचार इस देश में प्रभावी हो गया तो अलपसंख्यक अहिंदू समाजों की खैर नहीं रहेगी। वे लोग यहाँ सुरक्षित नहीं रह पायेंगे। हिंदुत्व ही राष्ट्रीयत्व है, ऐसा समीकरण प्रस्तुत करने वालों का विचार विशेषतः मुसलमान या ईसाई विरोधी भावना से उत्पन्न हुआ है, यह असत्य प्रचार प्रसृत करने का राष्ट्रव्यापी प्रयास योजनापूर्वक हमारे देश में विगत पचास वर्ष में हुआ। इस असत्य प्रचार का अभियान पहले भी राजनीतिक स्वार्थवश चलाया गया और आज भी वह चालू है। इसमें संदेह नहीं कि यह तो जानबूझकर उलटे बाँस बरेली जाने की ही बात है। अब तक हमने इस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाया है कि पं. दीनदयाल जी के राष्ट्र विषयक चिंतन के विविध पहलू देखने से ध्यान में आता है कि उनके विचारों की दिशा पूर्णतः रागात्मक (पॉजिटिव) है, विरोधात्मक या नकारात्मक (निगेटिव) नहीं। हिंदू राष्ट्र का विचार किसी से विद्वेष या विरोध करने पर आधारित नहीं है। मूलतः वह कोई प्रतिक्रियात्मक विचार भी नहीं है। वैसा होता तो उसके कभी के वारे-न्यारे हो जाते। अब किसी को यह बताने की कोई आवश्यकता नहीं कि मात्र अंग्रेज विरोध पर आधारित तथाकथित देशभक्ति की अवस्था हो गयी है। उतनी सीमित देशभक्ति वाले उन देशभक्तों ने स्वराज्य का अर्थ स्वार्थ-साधन की निरंकुश छूट माना और विरोधात्मक विचार करने की लत पड़ी होने के कारण आपसी कलह के रूप में वे विरोधी की उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावना का शमन करते दिखाई दे रहे हैं। मार्क्सवादी विचार स्थापितों के विरोध एवं विद्वेष पर आधारित होने के कारण उसकी दुर्दशा हो गयी दिखाई देती है। वे आज अनेक खेमों में बँट गये हैं। आज कम्युनिस्ट देश भी एक दूसरे के विरोध में खड़े हो गये हैं। स्वयं भारत में भी अनेक मार्क्सवादी दलों की खरपतवार बढ़ गयी है। विद्वेष या विरोध में जीवन की रचनात्मक प्रेरणा हो ही नहीं सकती। इसके उपरान्त हिंदू राष्ट्रवादियों की भूमिका तथाकथित अल्पसंख्यकों के बारे में क्या है, यह प्रश्न बार-बार पूछा जाता हैं। पं. दीनदयाल जी ने इस प्रश्न की चर्चा हिंदू राष्ट्रविचार के अनुषंग से ही की है। उनके विचार सुस्पष्ट हैं। उनमें किसी प्रकार का संभ्रम या राजनीति में प्रचलित दांभिकता एवं दोगलापन नहीं है। विगत 60-70 वर्ष से भारत के प्रादेशिक राष्ट्रवाद के अंकुराने के प्रयास के प्रति मन ही मन जिनका सारा भ्रम टूट चुका है, ऐसे लोग आज हम भारत के विविध राजनीतिक दलों में पाते हें। अल्पसंख्यकों की समस्या जिस प्रकार फिर से अपना सिर उठा रही है, उसे देखकर ये लोग भी विचलित हैं, चिन्तित हैं। उन्हें हार्दिकता से लगता है कि हिंदू समाज दुबला और संख्या की दृष्टि से क्षीण नहीं बनना चाहिए। भारत के फिर एक बार विभाजन के संकट को वे भली-भाँति समझते हैं। किन्तु सत्तात्मक राजनीति में रहने की इच्छा होने के कारण वे वैसा दो टूक बोल नहीं पाते। इस मानसिकता का दबाव या बंधन जिन पर नहीं, वे लोग निर्भयता से सत्य बताते रहते हैं।

समस्या का सच्चा स्वरूप

तो इन तथाकथित धार्मिक अल्पसंख्यकों की समस्या के बारे में पं. दीनदयाल जी की भूमिका क्या थी? पहली बात यह कि पं. दीनदयाल जी के हिंदू होने के कारण उनका इस्लामी या ईसाई उपासना-पद्धतियों के साथ कोई विरोध नहीं था। मोहम्मद पैगंबर या ईसा मसीह जैसे संप्रदाय-संस्थापकों की उन्होंने कभी आलोचना नहीं की। उनका स्पष्ट मत था कि मुसलमानों या ईसाइयों का प्रश्न कहलाने वाली समस्या वस्तुतः 'धार्मिक' है ही नहीं। किस प्रकार से ईश्वर की उपासना करें या किस ईश्वर को भजें, हरेक का अपना स्वतन्त्र व्यक्तिगत विषय है। कोई कारण नहीं कि एक व्यक्ति उपासना-पद्धति को लेकर दूसरे को हीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझे। यही सर्वधर्मसमभाव की उनकी भूमिका थी। मोहम्मद पैंगबर या ईसा मसीह के उपदेशानुसार उपासना करने का राष्ट्रीयत्व के साथ कोई सम्बन्ध होता ही नहीं। हिंदुस्थान के हिंदू लोग तो 33 करोड़ देवताओं को मानने के लिए भी तैयार हैं! भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है-

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

इसमें यच्चयावत सभी देवताओं का समावेश हो चुका है। कोई इनमें मुसलमानों के 'अल्लाह' और ईसाइयों के 'फादर इन हेवन' का भी समावेश कर दे, तो कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं। विश्व का नियमन करने वाली शक्ति को किसी भी नाम से संबोधित करें, तो भी अन्त में उसका स्वरूप 'त्रैलोक्यनाथो हरिः' ही होता है। एक ही हिंदू परिवार में भिन्न-भिन्न गुरुओं का उपदेश एवं दीक्षा प्राप्त करने वाले लोग होते हैं। शैव और वैष्णव होते हैं, तो कोई दत्तसंप्रदायी होते हैं। कोई रामभक्त होता है तो कोई कृष्णभक्त। किन्तु इस बात को लेकर झगड़े नहीं होते। यह सामंजस्य हिंदुओं के रक्त में घुला है। पं. दीनदयाल जी को यही व्यापकता स्वीकार थी। अतः मुस्लिम समस्या अथवा ईसाई समस्या के नाम से जानी जाने वाली समस्याएँ मूलतः, मनुष्य और भगवान के बीच संबंध क्या हों, कैसे हों और भगवान को प्रसन्न करने के लिए क्या करना चाहिए-इस स्वरूप की है ही नहीं। उन्हें उस स्वरूप का मानकर उनका समाधान करने अर्थात् हिंदू-मुसलमानों अथवा हिंदू-ईसाइयों में सौहार्द-निर्माण के प्रयत्न सफल नहीं हुए। गांधी जी ने दैनिक सायं प्रार्थना में 'ईश्वर-अल्ला तेरे नाम' कहा! उपासना की दृष्टि से अभिन्नता व्यक्त करने और ऐक्य निर्मित करने का प्रयास उन्होंने किया। किन्तु सामंजस्य सिखाने का यह प्रयत्न भारत के लिए नया थोड़े ही था। संत कबीर और गुरु नानक ने पहले भी इस प्रकार के प्रयास किये थे। इतिहास उसका साक्षी है। राम-रहीम एक हैं, समझाने का प्रयास हुआ है। उसमें से एकता स्थापित नहीं हो पायी, यह सत्य है। यूरोप में 'क्रूसेड्स' या 'होली वार्स' (जिहाद) हुए हैं। कहा जाता है कि 'धर्म' के लिए वहाँ बहुत बड़ा रक्तपात हुआ। किन्तु सोचा जाये, कौन से संत-महात्मा उन संघर्षों में सम्मिलित थे? ये लड़ाइयाँ तो सत्ता की महत्त्वाकाँक्षा रखने वालों ने कीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
भगवान जब कहते हैं कि वे धर्मस्थापना के लिए अवतार लेते हैं, तब वे किसी विशिष्ट संप्रदाय के पक्षधर होकर नहीं बोलते। उनकी भाषा होती है-'परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्' की। अपनी-अपनी मति के अनुसार आत्मिक कल्याण के लिए श्रद्धापूर्वक उपासना करने वाले लोग संघर्ष कभी नहीं भड़काते। किसी न किसी प्रकार की असहिष्णु एवं दूषित महत्त्वाकाँक्षा रखकर आक्रामक बनने वाले लोग ही संघर्ष का कारण बनते हैं। पं. दीनदयाल जी द्वारा बतायी गयी और भी एक बात ध्यान देने योग्य है। कोई समस्या उत्पन्न होती है तो उसका संबंध किसी व्यक्ति की भलमनसाहत या बुराई के साथ नहीं हुआ करता। भले-बुरे, सुष्ट-दृष्ट व्यक्ति तो प्रत्येक समाज में होते ही हैं। मोहम्मद अली करीम छागला नामक व्यक्ति मुसलमान समाज में जन्मा था। हमीद दलवाई का जन्म मुस्लिम समाज में ही हुआ था। प्रसिद्ध क्रांतिकारी अशफाक उल्ला मुसलमान ही थे। शिवाजी अथवा पेशवाओं की सेना में अच्छे पदों पर मुसलमान व्यक्ति भी थे। महत्त्व की बात यह है कि ये सब 'व्यक्ति' थे, अच्छे व्यक्ति थे। राष्ट्र को अपना 'ईमान' अर्पण करने वाले व्यक्ति थे। किन्तु इन व्यक्तियों को करोड़ों इस्लाम-पंथियों का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। उनसे समूह-मन और प्रवृत्तियों का परिचय नहीं होता। छागला जैसे बहुसंख्य व्यक्ति मुस्लिम समाज में होते तो समस्या उत्पन्न होने का कोई कारण ही नहीं था! प्रा. वी.वी. जॉन जैसे उदारमतवादी व्यक्ति ही ईसाइयों में होते तो समस्या निर्मित होने का कारण ही क्या हो सकता था? अतः झगड़ा उपासना-पंथों से नहीं। अथवा थोड़े से अच्छे लोगों का उदाहरण देकर भी समस्या का समाधान होने वाला नहीं है। पं. दीनदयाल जी ने स्पष्ट कहा था कि इन दोनों मार्गों पर चलने से आज तक कोई लाभ नहीं हुआ है। न ही इसके आगे भी होने की कोई संभावना है।

प्रश्न मूलतः राजनीति

अपनी पद्धति के अनुसार इन तथाकथित अल्पसंख्यक समाजों के कारण राष्ट्रजीवन में उत्पन्न प्रश्नों के मूल तक पंडित जी गये हैं। पोंगापंथी विचारों के सारे आवरण हटाकर समस्या के वास्तविक रूप और उसके समाधान के मार्ग की ओर उन्होंने ध्यान दिलाया है। उन्होंने कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
है कि समस्या राजनीतिक है और राजनीतिक स्तर पर ही उसका समाधान ढूँढना होगा। राजनीतिक से अभिप्राय क्या? इसका अर्थ यह है कि विशिष्ट प्रदेशों में अपना राजनीतिक वर्चस्व रखने की आकाँक्षा ही सभी तथाकथित सांप्रदायिक अशांति के मूल में होती है। इस आकाँक्षा की पूर्ति के लिए उन्हें अपनी संख्यात्मक वृद्धि येनकेन प्रकारेण चाहिए होती है। परिवार-नियोजन और एक पत्नीत्व उन्हें रास नहीं आता। धर्मान्तरण के योजनाबद्ध अभियान वे विदेशी दलों और सूत्रों की सहायता से चलाते रहते हैं। आतंकवाद को वे वर्जित नहीं मानते। बांग्लादेश के घुसपैठियों को असम में प्रश्रय इसीलिए मिलता है ताकि असम को मुस्लिम-बहुसंख्यक प्रदेश बनाया जा सके। ईरान और अफगानिस्तान को आज राजनीतिक सत्ता के बल पर ही इस्लामी देश बनाया गया है। अफगानिस्तान पहले कभी गान्धार देश था। तब तो वह भारतवर्ष का ही एक भाग था। भारतवर्ष के बारे में आज तक का अनुभव बताता है कि जिस किसी भाग में हिंदू बहुसंख्यकत्व नष्ट हो जाता है अर्थात् हिंदू अल्पमत में आ जाते हैं, वह भाग भारतवर्ष से अलग हो जाता है। इतिहास इसका साक्षी है। किन्तु इस देश के कुछ भागों को इस प्रकार काट कर अलग करने मात्र से इस्लामपंथियों को संतोष नहीं मिलता, उलटे हिंदू बहुमतवाले भू-भागों के प्रति उनके मन में असहिष्णुता बढ़ती है। वे उन्हें सहन नहीं कर पाते। भारत की संपूर्ण भूमि पर इस्लाम का राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करने की आकाँक्षा उस पंथ के लोगों के समूहशः हो, तो ईश्वर-अल्ला एक है का तत्त्वज्ञान उन्हें सुनाने मात्र से वह कैसे नष्ट हो जायेगी? किसी दंगे में मुसलमानों के उदाहरण देकर इन दो समाजों में स्थायी एकता कैसे स्थापित की जा सकेगी? इतिहासकारों द्वारा निकाला गया एक निष्कर्ष राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विद्यमान सरसंघचालक श्री बालासाहब देवरस अपने भाषणों में बताया करते हैं। निष्कर्ष है कि मुस्लिम-बहुसंख्या सदैव अन्य मतावलंबियों के प्रति असहिष्णु होती है और उनकी अल्पसंख्या सदा उपद्रवकारी। स्वयं को इस्लामी घोषित करने वाले किसी भी देश में आज यह अनुभव किया जा सकता है कि जहाँ वे लोग परिणामकारक अल्पसंख्या में होते हैं, वहाँ वे उपद्रव खड़े करते हैं। क्यों? इसलिए कि उनके मन में अपने समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का राजनीतिक वर्चस्व प्रस्थापित करने की आकाँक्षा होती है। मुसलमानों का यह सामूहिक स्वभाव बन गया है। धर्म और राजनीति में वे कोई अंतर नहीं मानते। धर्म के आवरण में अपनी राजनीतिक आकाँक्षाओं की पूर्ति करा लेने के मुसलमानों और ईसाइयों द्वारा अखण्ड प्रयास किये जाने के कारण उत्पन्न समस्या ही हिंदुस्थान के अल्पसंख्यकों की समस्या का वास्तविक रूप है। गांधी जी और काँग्रेस ने इसको ठीक से ध्यान में नहीं लिया। अन्यथा हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रश्न के बारे में उन्होंने वह मार्ग कभी न अपनाया होता, जिस पर वे चले। न ही कुछ लोगों द्वारा इस एकता के लिए सदिच्छापूर्वक सुझाये गये अंतर्धर्मीय विवाह, एक-दूसरे के त्यौहार-समारोहों में सम्मिलित होना विभिन्न संप्रदायों द्वारा दी जाने वाली सीख में जो समान बातें हैं उनका प्रचार करना आदि जैसे सतही सुझाव दिये जाते। कुछ लोगों के मस्तिष्क से निकली यह कल्पना भी फिर नहीं निकलती कि हिंदू नाम त्याग दें ताकि राष्ट्रीय एकात्मता स्थापित हो सके!

इतिहास बताता है कि इस प्रकार के कुछ प्रयास पहले किये जा चुके हैं। राजपूतों ने अपनी कन्याओं को मुगलों से ब्याह दिया तो क्या वैर-भावना समाप्त हो गयी? मुसलमानों के पीरों को भजने वाले लोग भी यहाँ थे, ऐसा श्री समर्थ रामदास द्वारा वर्णित देशस्थिति में लिखा है। फिर भी समस्या का समाधान ढूँढने के लिए छत्रपति शिवाजी महाराज को कटिबद्ध क्यों होना पड़ा? आज भी कुछ हिंदू लोग अनेक पीरों को भजते हैं। मुहर्रम के समारोह में सम्मिलित होते हैं। किन्तु क्या साम्प्रदायिक तनाव उससे समाप्त हो जाने की बात कहीं अनुभव की जाती है? मुस्लिम समाज में अधिकतर लोगों के पूर्वज हिंदू थे। आज भी जिनका धर्मांतरण किया गया है वे कल तक हिंदू ही थे। फिर मुकुंद का मुहम्मदखान बनते ही ऐसा क्या परिवर्तन हो जाता है कि धर्मान्तरित व्यक्ति के जीवन का सारा स्वरूप ही बदल जाता है? इन प्रश्नों का इतिहास सिद्ध उत्तर यही है कि मुसलमानों के मन में, जहाँ वे रहते हैं, उस भाग को इस्लामी वर्चस्व में लाने और इस्लाममय बनाने की सामूहिक आकाँक्षा होती है। इस्लामी बनाने का अर्थ ही अन्य मतों को नष्ट करना होता है। वस्तुतः यह प्रश्न सतही विचार करने का नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी जड़ें इतिहास में गहरी जमी हैं। मुसलमानों की ही समस्या को लिया जाय, तब भी, यह मानना कि इसका निर्माण अंग्रेजों की 'फूट डालो' नीति का ही परिणाम है, अनैतिहासिक होगा। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यदि हम मान लेते हैं कि इस समस्या का प्रारंभ तो महमूद गजनबी, मुहम्मद गौरी, अल्लाउद्दीन खिलजी द्वारा किये गये आक्रमणों से ही होता है। उस सारे इतिहास का सिंहावलोकन डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर द्वारा पाकिस्तान के निर्मित होने से पूर्व लिखी गयी 'थॉट्स ऑन पाकिस्तान' शीर्षक पुस्तक में बहुत ही उत्तमता से किया गया है। आक्रांताओं की हिन्दुओं की ओर देखने की दृष्टि क्या थी, इसके नमूने के रूप में उन्होंने अल्लाउद्दीन का उदाहरण दिया है। उसका आशय यह है कि हिंदू और मुसलमानों के आपसी संबंध क्या हों, ऐसा प्रश्न एक बार अल्लाउद्दीन ने अपने काजी से किया तो काजी ने उत्तर दिया - 'हिंदू जनता को गुलामी में रखना हमारा मजहबी कर्तव्य है, क्योंकि वे हमारे पैगम्बर के दुश्मन हैं और हमारे पैगम्बर की हमें आज्ञा है कि ऐसों को या तो इस्लाम की दीक्षा दो और ऐसा करना असम्भव हो तो उन्हें जान से मार डालो, उनकी धनदौलत लूट लो और उन्हें दास बना लो।' अब सोचने की बात है कि हिंदू समाज को हिंदुस्थान से उसकी धर्मसंस्कृति के साथ नष्ट करने की आकाँक्षा से सदियों से किये गये आक्रमणों की स्मृति क्या सहज ही भुलायी जा सकती है? इस अतीत को भुलाने के लिए क्षमाशील और उदारमना हिंदू समाज शायद तैयार हो भी जाये, किंतु स्वयं मुसलमान ही अपने उस रक्तलांछित इतिहास को गौरवास्पद मानकर फिर एक बार यहाँ अपना राजनीतिक वर्चस्व स्थापित करने की आकाँक्षा रखते हों, तो क्या किया जाय? यह आरोप केवल कपोल-कल्पना नहीं है। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैयद अहमद खान ने भारत के मुसलमानों के अतीत के बारे में कहा है - "मुसलमान इस देश के मूल निवासी नहीं हैं। वे अतीतकालीन विजेताओं के साथ यहाँ आये और धीरे-धीरे यहीं बस गये। किसी समय यहाँ राज करने वाली बिरादरी के मुसलमान वंशज हैं। इसलिए (मुसलमानों) सोचिए कि आप कौन हैं? आपकी जाति क्या है? हम वे लोग हैं जिन्होंने भारत पर छः-सात सौ वर्ष राज किया है। हमारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाति में उन लोगों का लहू दौड़ रहा है जिनके नाम से न केवल भारत बल्कि एशिया और यूरोप भी थर्रा जाता था। हमारी जाति ने तलवार के बल पर सारे भारत पर विजय पायी थी...।'' इन्हीं सर सैयद को राष्ट्रीय मुसलमान बताने वाले कई लोग हैं! यह तो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का उदाहरण है। उसका तर्कसंगत विश्लेषण करते बैठना बेकार है। विचारणीय है उसमें निहित भावना। उससे भी 100-125 वर्ष पूर्व, अर्थात् तब जबकि हिंदुस्थान में मुसलमानी राजसत्ता हिंदू शक्ति से पिट रही थी और ध्वस्त अवस्था में थी, उत्तर में वलीउल्ला ने मुसलमानों को हिंदुओं से अलग रखने का प्रयास किया था। उसने मुसलमानों को भड़काने वाली विषैली बातें कही थीं - ''हम लोग यहाँ विदेश से आये हैं। हमारे लिए अरबी भाषा और अरब वंशों का इतिहास ही गौरव का विषय है। इसलिए उन रीति-रिवाजों को, जिन्हें हम अरबस्तान से साथ लाये हैं, कभी मत छोड़ो और हिन्दुओं के रीति-रिवाजों को कभी स्वीकार न करो।'' इन दो वक्तव्यों में सौ वर्ष से अधिक समय का अंतर है। फिर भी उनमें निहित भावना में क्या कोई अंतर है? आगे चलकर मुस्लिम लीग की स्थापना ब्रिटिशों की फूट डालो नीति से उठाया गया लाभ और दबाव को बढ़ाते-बढ़ाते अंत में 1947 में भारत का विभाजन करवा कर पाकिस्तान की प्राप्ति का उद्वेगजनक इतिहास यहाँ दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं है। राष्ट्रीय काँग्रेस निरंतर दावा करती रही कि वह भारत के सभी धर्मों के लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। किन्तु मुस्लिम लीग के नेता बैरिस्टर जिन्ना ने इस दावे को कभी स्वीकार नहीं किया। जिन्ना ने काँग्रेस को केवल हिंदुओं की ही प्रतिनिधि माना। पहले शाह वलीउल्ला खान और सर सैयद अहमद जिस भाषा में बोलते थे, उसी भाषा में 1940 और 1947 के बीच मुसलमानों के प्रतिनिधि के नाते जिन्ना भी फिर से बोलते रहे। उनका यह उद्धरण इस बात को स्पष्ट करने वाला है : ''मैं अपने ही बल पर निर्भर हूँ। अंग्रेजों का भरोसा नहीं करता, न ही हिंदू बनियों का करता हूँ। आज हम भारत के केवल चौथाई भाग की माँग कर रहे हैं। तीन चौथाई देश को हम हिन्दुओं के लिए छोड़ने को तैयार हैं। वे यदि अपना हठ नहीं छोड़ते, तो शायद वह भी उन्हें नहीं मिलेगा। हिंदुओं ने विगत एक हजार वर्ष से भारत पर शासन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं किया। उन्हें अपना राज चलाने के लिए तीन चौथाई भारत देने को हम तैयार हैं। हमारे एक चौथाई भाग की अभिलाषा वे छोड़ दें।'' जिन्ना ने प्रचार के बल पर यह तर्क भी चलाने में कुछ सफलता पायी कि भारत में हिंदू और मुस्लिम दो अलग-अलग राष्ट्र हैं। वह कहा करते थे कि ''भारत की समस्या अन्तर्राज्यीय नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय है। यहाँ शांति लानी हो तो यहाँ की प्रमुख जातियों को भारत के अलग-अलग टुकड़े काटकर देने ही पड़ेंगे। भारत में हिंदू और मुसलमान मिलकर एक मिलीजुली राष्ट्रीयता प्राप्त कर सकेंगे, यह एक कोरा सपना मात्र है। मुसलमान एक अल्पसंख्य समुदाय नहीं, एक राष्ट्र है। उसे अपनी स्वतंत्र भूमि और राज्य मिलना ही चाहिए।'

1947 के बाद भी वही

बैरिस्टर जिन्ना और भारत में रहने वाले मुसलमान समाज के इस आततायी दुराग्रह में मजहब के नाम पर भारत की भूमि में स्वतंत्र इस्लामी राज्य निर्मित करने के अतिरिक्त और क्या था? जिन्ना सश्रद्ध मुसलमान के नाते कभी प्रख्यात नहीं थे। उनका रहन-सहन एकदम पश्चिमी ढंग का था। किन्तु उन्होंने मुसलमानों का राजनीतिक नेतृत्व किया। मुसलमान हिन्दुओं को हराने वाला और उन पर अपना वर्चस्व स्थापित करने वाला समाज है, बात उन्होंने मुसलमानों के मन में भर दी। मजहबी उन्माद को सुलगाया। उनकी सभी बढ़ी-चढ़ी माँगें मुसलमान समाज के लिए अधिक राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने हेतु ही थीं। पाकिस्तान का निर्माण करने की इच्छा से ही मुसलमानों ने 1946 के चुनाव में लीग को मत दिये। उस समय मुसलमानों के स्वतंत्र निर्वाचन-क्षेत्र थे। उनमें काँग्रेस की दुर्गति स्पष्ट दिखाई दी। जो प्रदेश पाकिस्तान में जाने की कोई संभावना नहीं थीं, उनमें भी, एक उत्तर-पश्चिम सीमांत-प्रांत को छोड़कर, पाकिस्तान को ही समर्थन मिला। किन्तु इस बात को ध्यान में लेकर कि इन मुसलमानों की आकाँक्षा राजनीतिक ही है, उन्हें राजनीतिक धरातल पर ही मुँहतोड़ उत्तर देने की नीति काँग्रेस ने नहीं अपनायी। उसकी नीति मुस्लिम तुष्टीकरण की रही। विभाजनपूर्व-काल में तो इस अनुनय की अति हो गयी थी। उधर जिन्ना अपनी आवाज चढ़ाते और इधर काँग्रेसी नेता उनको एक-एक दान देते जाते। यही क्रम चल पड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। अंत में तो सारे देश की बागडोर मुस्लिम लीग को सौंपने के लिए गांधी जी तैयार हो गये थे! किन्तु मुसलमानों को अलग राज्य बनाये जा सकने की संभावना दिखाई देते ही जिन्ना ने किसी भी प्रकार के समझौते से इन्कार कर दिया। मुसलमानों की शायद यही कल्पना थी कि मुसलमानों का पृथक् राज्य भारत की भूमि पर खड़ा होने के बाद आगे चलकर समूचे भारत पर मुस्लिम वर्चस्व स्थापित करने के लिए एक आधारभूमि उपलब्ध हो जायेगी। 'पाकिस्तान शीघ्र ही असम को डकार जायेगा', ये जिन्ना के उद्गार इस संदर्भ में प्रसिद्ध हैं। इस सारे इतिहास का स्मरण मात्र इसलिए दिलाया है कि पं. दीनदयाल जी की बात की यथार्थता सही परिप्रेक्ष्य में ध्यान में आये कि मुस्लिम समस्या मूलतः एक राजनीतिक समस्या है। उन लोगों को, जो हिन्दुओं को सहिष्णुता का और बीती बिसार देने का उपदेश दिया करते हैं, यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह प्रश्न हिंदुओं द्वारा अपने इतिहास को बिसारने या न बिसारने का नहीं है। वास्तव में प्रश्न मुसलमान समाज के मानस मे गहरे पैठी इस भावना को समाप्त करने का है कि हिंदुओं पर उन्होंने आधिपत्य चलाया है और हिंदुओं को फिर से इस्लामी सत्ता के अधीन बनाने एवं हिंदुस्थान का इस्लामीकरण करने का उर्वरित कार्य पूरा करने की आकाँक्षा रखना कतई गलत नहीं है। यह जिस रीति से हो पायेगा, वही हिंदू-मुस्लिम एकता का सच्चा मार्ग है। शेष सारे मार्ग व्यर्थ हैं! पं. दीनदयाल जी के इस निष्कर्ष की पुष्टि विभाजन के बाद की घटनाओं से हो जाती है। मुस्लिमों के स्वतंत्र राज्य में वहाँ की मुस्लिम बहुसंख्या ने हिंदू अल्पसंख्यकों को सम्मान और सुरक्षा के साथ जीने नहीं दिया। आज पश्चिम पाकिस्तान में हिंदू केवल नाम मात्र को ही रह गये हैं। पूर्व के हिंदुओं को भी निर्वासित होना पड़ा है। बांग्लादेश बनने के बाद भी वहाँ हिंदू सुरक्षित नहीं रह पाये हैं। असम को डकार जाने के षड्यंत्रों में कोई कमी नहीं आयी है। भारत में इन दिनों सांप्रदायिक समस्या तीखी हो गयी है। मुसलमानों के दंगे स्थायी सिरपीड़ा बन गये हैं। यह इसी बात का प्रमाण है कि आज भी इस समस्या का हल नहीं निकाला जा सका है। बस यही इस प्रतिपादन का आशय है कि गांधी जी और काँग्रेसी नेता इस विषय में गलत मार्ग पर चलते रहे हैं। मुसलमान समाज से वैर रखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय या उन्हें हिन्दुस्थान से उखाड़ फेंका जाय, यह कल्पना इसमें कतई नहीं है।

1947 में हुए भारत-विभाजन के सन्दर्भ में पं. दीनदयाल जी ने लिखा है-"1947 में हुआ यह पराभव भारतीय एकत्व की अनुभूति की पराजय नहीं, बल्कि राष्ट्रीय एकता के नाम पर किये गये भ्रान्त प्रयासों की पराजय है। हम इसलिए नहीं हारे कि हमारे उद्देश्य में कोई दोष था, बल्कि इसलिए कि हमारा मार्ग गलत था। साधन सदोष होने के कारण हम अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सके। किन्तु इससे तो लक्ष्य को त्याज्य अथवा अव्यावहारिक नहीं ठहराया जा सकता। साधनों का चयन दोषपूर्ण होने से ही देश का विभाजन हो गया। आज भी हम उन्हीं गलत साधनों को काम में ला रहे हैं और इसीलिए स्वतन्त्रता-प्राप्ति के छत्तीस वर्ष बाद भी 'कम्युनल प्रोब्लेम' अर्थात् सांप्रदायिक संघर्ष का प्रश्न आज भी हिन्दुस्थान के मत्थे पड़ा हुआ है। क्या विभाजन ने यह स्पष्टतः दिखा नहीं दिया कि अनुनय (appeasement) एकता का साधन नहीं बन सकता? फिर क्यों नहीं हमने बाद के काल में इन साधनों के बारे में पुनर्विचार किया? क्यों नहीं हमने असंदिग्ध शब्दों में घोषित किया कि भारत में उपासना-पद्धतियों की विविधता तो रह सकती है, किन्तु राष्ट्रीय संस्कृतिधारा एक ही रहेगी और जो उस धारा के साथ अपने आपको समरस नहीं कर सकते, वे यहाँ के राष्ट्रीय नहीं माने जायेंगे? क्यों नहीं हमने राजनीतिक दृष्टि से अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक वाली यह समस्या सदा के लिए समाप्त कर दी? क्यों हमने फिर से उन्हीं कुप्रवृत्तियों को सिर उठाने का अवसर दिया जिनके कारण देश का विभाजन हुआ था? धर्म के नाम पर राजनीतिक माँगों को आगे बढ़ाने वाली जो लत हमारी राष्ट्रीय एकता के मूल पर ही प्रहार कर गयी थी, उसे हमने आगे भी क्यों चलने दिया?"

पं. दीनदयाल जी सांस्कृतिक एकता पर बहुत बल देते थे। मुसलमान हों या ईसाई, सब को इस देश की प्राचीन एवं राष्ट्रीय अर्थात् हिंदू संस्कृति-प्रवाह में सम्मिलित होना चाहिएं, यह उनका एकात्मवादी दृष्टिकोण होने के कारण उन्हें इस बारे में कोई समझौता स्वीकार नहीं था। इसका कारण यह है कि उनकी मान्यता थी कि संस्कृति ही हमारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीय एकात्मता का प्राणतत्त्व है। उनका सिद्धांत था कि समान संस्कृति के आधार पर ही राष्ट्रीयत्व की अभिव्यक्ति होती है। भारत में मुसलमान आक्रान्ताओं के रूप में आये और आज भी उसी भावना से वे यहाँ रह रहे हैं। पाकिस्तान का निर्माण भारत-भूमि पर हुआ राजनीतिक आक्रमण ही है। हम भले ही उसे विभाजन कहें, वह हजार-बारह सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुए आक्रमणों का ही एक नया अध्याय है। इससे पूर्व हुए आक्रमण सदियों तक चलते रहे, किन्तु अन्त में राष्ट्रीय शक्तियों ने उनको परास्त कर दिया। भाऊ पेशवा ने तो दिल्ली के इस्लामी ताजोतख्त को लोहे के हथौड़ों से चूर-चूर कर दिया। छत्रपति शिवाजी से प्रारम्भ होकर आगे भी आक्रान्ता मुस्लिम सत्ता को राजनीतिक मुँहतोड़ उत्तर देने का जो सफल प्रयास हुआ, उसी के कारण मुसलमानों की कट्टरता कुछ सौम्य होकर अभिसरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी। किसी भी आक्रामक संप्रदाय को निरंतर यह प्रतीति हो जाने को ही, कि साम्प्रदायिक अभिनिवेश से राजनीतिक आकाँक्षाओं की पूर्ति हेतु किये गये उसके अत्याचारों को सहन नहीं किया जायेगा और सौहार्दपूर्वक राष्ट्रीय जीवन के साथ एकरस होकर रहने से ही सबके समान सम्मान का जीवन जीना संभव हो सकेगा, उसकी राजनीतिक पराजय कहा जाता है।

मुसलमानों ने राजनीतिक आकाँक्षा एवं संप्रदायनिष्ठ असहिष्णुता से ग्रस्त होकर भारत में दाँवपेंच की जो नीतियाँ निश्चित की थीं, वे आज भी वैसी ही चल रही हैं। उनमें कोई अंतर नहीं आया है। इन नीतियों का मुख्य सूत्र यही है कि हिन्दू संस्कृति में वंदनीय, श्रद्धेय, प्रेरणादायी एवं दिव्य मानी गयी हर बात पर पाशविक आघात करने की असहिष्णु विध्वंसकता को अपने मजहबी कर्तव्यों का एक भाग मानें और असंगठित हिंदुओं में पराभूत मानसिकता को बढ़ायें। इसी उजड्ड सूत्र के अनुषंग से ही मंदिर तोड़ना, गोहत्या करना, राम, कृष्ण आदि को राष्ट्रपुरुष न मानना, माँ-बहिनों का अभद्र अपमान करना, बलात् धर्मपरिवर्तन करवाना, वन्दे मातरम् पर आक्षेप उठाना आदि अब भी हो रहे हैं। भूषण कवि के-''काशी जी की कला जाती, मथुरा मसीत होती, शिवाजी न होते तो सुन्नत होती सब की'-कवित्त में यही भाव है। राजनीतिक सत्ता के बिना मुस्लिम सम्प्रदाय के लोगों को बड़ी अशान्ति अनुभव होती है। उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति और सम्प्रदाय-प्रसार को सदैव अभिन्न माना है। उनके इस स्वभाव को ध्यान में रखकर ही मुस्लिम समस्या का समाधान करना होगा। 1947 में भारी ठोकर खाने के बाद भी काँग्रेस-राज्यकर्ताओं को राजनीतिक अग्रपंक्ति पर दृढ़ रहने की नहीं सूझी। परिणामतः भारत की भूमि पर अमाप रकतपात हुआ और आज भी हो रहा है। राष्ट्रीय समाज को बार-बार मानहानि सहनी पड़ी है। राष्ट्रीय एकता के लिए नाना प्रकार के नये-नये संकट उत्पन्न हुए हैं। एक ही अलगाववादी प्रवृत्ति को यदि राजनीतिक सत्तास्वार्थ पर दृष्टि रखकर सहन कर लिया तो अलगाववाद छूत का रोग बन जाता है। मुसलमानों के अलगाववादी राजनीतिक षड्यंत्रों की दाल उसी समय गलने न दी होती, तो आज झारखंड, नागालैण्ड, मिजोरम, द्राविड़नाडु, गोरखालैण्ड, खालिस्थान आदि माँगों की जो बाढ़ आयी दिखाई देती है वह कदापि न दिखाई देती।

राष्ट्रीय शक्तियों को प्रबल करना ही एकमात्र मार्ग

राजनीतिक दल का काम करते समय भी दीनदयाल जी ने अखण्ड भारत को अपने दल के लिए मूलभूत श्रद्धा का विषय माना था। जनसंघ के संविधान में उन्होंने वैसा स्पष्ट उल्लेख कर रखा था। उन्होंने इस बात पर, कि पाकिस्तान अखण्ड भारत का ही आक्रमित भाग है और उसे फिर से इस अखण्ड हिंदू राष्ट्र का अंग बनाना चाहिए, कोई समझौता स्वीकार नहीं किया, न ही राजनीतिक सुविधा के लिए उस सत्य को दृढ़तापूर्वक कहने में कभी संकोच किया। इस भूमिका का कारण मुसलमानों के मत जनसंघ को मिलेंगे या नहीं, इस बात की उन्होंने कभी कोई चिन्ता नहीं की। कोई उनसे पूछता कि अखण्ड भारत आप किस मार्ग पर चलकर बना लेंगे? तो उनका उत्तर होता था - "मुसलमानों को राजनीतिक मोर्चे पर हराकर!" भारत के मुससलमानों में यह इच्छा दिखाई नहीं देती कि देश अखंड हो जाये। इसका कारण यह है कि वे संपूर्ण भारतवर्ष को फिर से इस्लामी सत्ता के अधीन बनाने की आधारभूमि के रूप में पाकिस्तान की ओर देखते हैं। उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यदि पाकिस्तान उनकी दृष्टि में एक सीढ़ी हो, तो अखंड भारत की परिकल्पना को वे कैसे स्वीकारेंगे? अतः यहाँ भी संप्रदायवादी राजनीतिक आकाँक्षाओं को विफल कर सकने वाली राष्ट्रीय शक्ति को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबल करना ही एकतात्र मार्ग हमारे लिए शेष रह जाता है। काँग्रेस दल, 'इंडियन' शब्द के मोहजाल में दिशाहीन होने वाले लोग या 'सेक्यूलर' शब्द का विकृत अर्थ लगाने वाले राजनीतिक एवं अन्य क्षेत्रों के कार्यकर्ता आज इस तर्कसंगत भूमिका को स्वीकारने के लिए तैयार नहीं हैं। तैयार होंगे, ऐसा लगता भी नहीं है, क्योंकि मुसलमानों के वोट-बैंक और प्रादेशिक राष्ट्रवाद का विपरीत संस्कार विवेकभ्रष्ट करने वाला तथा अपनी उस विवेकभ्रष्टता पर दार्शनिक लीपापोती करने के मोहजाल में भरमाने वाला बड़ा प्रभावी आकर्षण है। उसके कारण ही विशुद्ध राष्ट्रीयत्व आज घुटन सी अनुभव कर रहा है और राष्ट्रविरोधी शक्तियों को बढ़ावा मिल रहा है।

'अखंड भारत : साध्य और साधन' शीर्षक अपने लेख में पंडित जी ने यही विचार साररूप में प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं - ''कोई नहीं कहेगा कि भारत के छः करोड़ मुसलमानों को यहाँ से उखाड़ फेंका जाय। अतः उन्हें भारतीय जीवन के साथ एकरस बनाना ही पड़ेगा। भौतिक दृष्टि से खंडित भारत में एकता की अनुभूति संभव हो, तो शेष भू-भाग के हमारे साथ एकरस होने में समय नहीं लगेगा। एकता की अनुभूति के अभाव के कारण ही देश खंडित हुआ है, तो उस अनुभूति के अस्तित्व से वह अखंड होगा। हमें उसी दिशा में प्रयास करना चाहिए। मुसलमानों को भारतीय बनाने के लिए हमें विगत पचास वर्षों में अपनायी गयी अपनी नीतियों में परिवर्तन करना पड़ेगा। काँग्रेस ने एकता के प्रयास गलत आधार पर किये। राष्ट्र और संस्कृति की अनादि काल से चली आयी वास्तविक एकता का साक्षात्कार करने के बजाय और सबको उस एकता का अनुभव कराने के बजाय काँग्रेस ने अनेकता का आत्मघाती पोषण ही किया। साथ ही उसने अनेकों को कृत्रिम एवं राजनीतिक सौदेबाजी के आधार पर एक करने का प्रयास भी किया। ये प्रयास कभी सफल नहीं हो सकते। राष्ट्रीयता और अराष्ट्रीयता का समन्वय होना असम्भव ही है।''

इस नीति के अनुसार पाकिस्तान एक कृत्रिम निर्माण है। वह एक अप्राकृतिक राज्य है, यह बात मुसलमानों के मन पर अंकित करनी होगी। हिंदू पूर्वजों के बारे में सारी ऐतिहासिक स्मृतियों को उनके मानस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
में फिर से जगाना पड़ेगा। यह प्रयास करना होगा कि वह इतिहास उन्हें अपना लगे। पाकिस्तान के निर्माण के कुछ वर्ष बाद ही वहाँ के पुरातत्व-परामर्शदाता मिस्टर व्हीलर से वहाँ की सरकार ने 'पाकिस्तान के 5000 वर्ष' नामक एक पुस्तक लिखवा ली। उसमें पाकिस्तानपूर्व एवं इस्लामपूर्व प्राचीन जीवन की महानता का वर्णन है। पाणिनि का उल्लेख गौरवपूर्वक किया गया है। संस्कृति के गौरव के इस प्रवाह के चलते मुस्लिम समाज उसके साथ एकरस हो जाये तो एकता की भावना का निर्माण हो सकता है। भारत को ऐसे विचारों को प्रोत्साहन अवश्य देना चाहिए। इसके अतिरिक्त, अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का दृढ़तापूर्वक निग्रह; उस मार्ग पर चलकर राजनीतिक लाभ नहीं उठाये जा सकते, इसकी प्रतीति निर्णायक ढंग से कराने वाली नीतियों का अंगीकार; और यहाँ की सांस्कृतिक जीवनधारा में एकरस होने के लिए मुसलमानों को समुचित मार्गदर्शन द्वारा प्रेरित करना; इन त्रिविध उपायों से मुस्लिम समस्या का स्थायी समाधान और निराकरण करना होगा, यही पं. दीनदयाल जी के प्रतिपादन का अर्थ है।

दीनदयाल जी से एक और प्रश्न भी किया जाता था कि नेपाल, ब्रह्मदेश या श्रीलंका को भी भारत में समा लेने का आग्रह आप क्यों नहीं रखते? अखंड भारत के पक्षधरों का संकेत सदैव 1947 में निर्मित पाकिस्तान की ओर ही क्यों रहता है? इसका उत्तर पंडित जी दिया करते थे कि भारत की संस्कृति-धारा को इन देशों ने अस्वीकार नहीं किया है। किसी विदेशी या असहिष्णु संस्कृति को उन्होंने अंगीकार भी नहीं किया है। भारतीय श्रद्धाकेन्द्रों को नष्ट-भ्रष्ट करने की पंथपिशुनता उन्होंने नहीं दिखायी है। हिंदू जनता को तो इस बात का गर्व है कि नेपाल में हिंदू शासन है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने एक बार नेपाल-नरेश को अपने एक उत्सव के मुख्य अतिथि के नाते नागपुर आने का निमंत्रण दिया था। लोगों को इसकी जानकारी होगी कि भारत सरकार ने उनके आने में बाधा खड़ी की थी। नेपाल, श्रीलंका या ब्रह्मदेश के अस्तित्व के कारण मन में यह भाव नहीं जागता कि मातृभूमि का विच्छेदन हुआ है या राष्ट्र के टुकड़े हो गये हैं। इसके विपरीत पाकिस्तान का निर्माण ही भारतीय संस्कृति के प्रति द्वेष और विरोध से और आगे चलकर समस्त भूमि पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लाम का वर्चस्व स्थापित करने की आकाँक्षा से हुआ है। इसलिए वह विच्छेदन है। संस्कृति का संबंध राष्ट्र के अस्तित्व के साथ होता है। भारतीय संस्कृति के मूल्यों, आदर्शों, राष्ट्रपुरुषों, परंपराओं तथा श्रद्धाकेन्द्रों के प्रति विरोध एवं विध्वंस की भावना रखने वाला तथा राजनीतिक प्रभुता की आकाँक्षा मन में सँजोये चलने वाला समाज इस राष्ट्र का अंग बन ही नहीं सकेगा। मक्का-मदीना, हसन-हुसैन, सोहराव-रूस्तम, बुलबुल आदि का अपने स्थान पर महत्त्व हो भी, किन्तु भारत के राष्ट्रजीवन और संस्कृतिधारा का वह भाग नहीं है। उन सब को अपना और राम, कृष्ण आदि की परंपरा को पराया मानने वालों को राष्ट्रीय कैसे कहा जा सकता है? हम देखते हैं कि कोई इस्लाम स्वीकार कर लेता है तो उसे देश की संपूर्ण परंपरा से तोड़ने और आक्रांताओं की परंपरा से जोड़ने का प्रयास किया जाता है। इण्डोनेशिया में अब अधिकांश लोग मुस्लिम हैं, किन्तु वहाँ रामायण के प्रति प्रेम बना हुआ है; गंगा का आकर्षण अब भी है। वैसा यहाँ के मुसलमानों में भी क्यों नहीं होना चाहिए? किन्तु होता नहीं, यह एक वास्तविकता है। इसलिए सब के एक संस्कृतिधारा में आये बिना राष्ट्रीय एकता या एकात्मता का निर्माण असंभव है। हिन्दुस्थान के राष्ट्रस्वरूप को बनाये रखने का यही एक मार्ग है। इसके लिए पहले इस्लाम की यहाँ के बारे में जो राजनीतिक आकाँक्षा है उस को पूर्णतः निर्मूल करने वाली स्थिति निर्मित करनी होगी। उसके बाद ही सांस्कृतिक एकता का विचार उनके मन में जड़ पकड़ सकेगा।

राजनीतिक पराभव करो

पं. दीनदयाल जी ने 1965 में पुणे में 'अखंड भारत' विषय पर एक भाषण दिया था - 'जो पाकिस्तानवादी होता है वह यहाँ के लोकजीवन से झिझकता रहता है और उसके पास नहीं फटकता। संपूर्ण भारत पर प्रभुत्व स्थापित करने की लालसा उसके मन में सदैव होती है। इसलिए भारतीय परंपरा कल्पित करता है। इसी राजनीतिक आकाँक्षा का सजीव स्वरूप पाकिस्तान है। पाकिस्तान की केवल एक पृथक् राजनीतिक सत्ता होती तो विशेष चिंता की कोई बात नहीं थी, क्योंकि हमारे यहाँ भी अनेक भिन्न-भिन्न राज्य थे ही। उनमें से कुछ सार्वभौमत्व का दावा भी कर रहे थे। इन राज्यों के कारण भारत की राष्ट्रीयता को किसी प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
की बाधा नहीं पहुँची। किन्तु पाकिस्तान केवल एक पृथक् राजनीतिक सत्ता नहीं है। हिंदुस्थान के ऐतिहासिक राष्ट्रीयत्व के साथ नाता तोड़ने वाली, भिन्न एवं शत्रुत्व की भावना से ओतप्रोत विजातीय राष्ट्रीयता में उसका विश्वास है। यह तो विष है। इसीलिए इस राजनीतिक समस्या का समाधान ढूँढें या न ढूँढें, इस विषय में संदेह रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह समस्या कैसे हल की जा सकती है? एक ही मार्ग है। जब तक मुसलमानों का राजनीतिक पराभव नहीं होता, तब तक इसका हल नहीं हो सकेगा। ऐसे राजनीतिक पराभव के बाद ही मुसलमानों को अपने में घुला-मिला लेना संभव होगा। समस्या का यह यथार्थ रूप है। उसे समझे बिना अनुनय की नीति पर चलकर या प्रभावहीन आह्वान करते हुए हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रयास यहाँ किये गये। कोई आश्चर्य नहीं कि वे विफल ही रहे। इस नीति के कारण हिंदू समाज में जो हीनभाव आ गया है, उसे भी इन अलगाववादियों का राजनीतिक पराभव करने से ही दूर किया जा सकेगा। राष्ट्रीय पुरुषार्थ की भावना को फिर उन्मुक्तता मिलेगी। पराभव के बाद आत्मनिरीक्षण की भावना जागती है। मुसलमान ऐसा आत्मनिरीक्षण करेंगे, तब इस सत्य का बोध उनमें भी जागेगा कि भारत की परंपरा ही उनकी अपनी परंपरा है और हमारे पूर्वज एक ही हैं तथा भारतमाता ही हमारी माता है।''

इस प्रतिपादन पर और कुछ भाष्य करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके द्वारा पं. दीनदायल जी ने व्यावहारिक मार्ग बताया है कि राष्ट्रीय एकता लाने और उसे सुस्थिर करने के लिए राष्ट्रीयता की प्रखर भावना स्वभावतः धारण करने वालों की शक्ति को पहले संगठित करना चाहिए। किसी को उसके उपासना-मार्ग को त्यागने के लिए कहे बिना अपने में समा लेने की क्षमता हिंदू समाज की विशेषता रही है। इसके लिए पं. दीनदयाल जी ने एक मार्गदर्शक सूत्र बताया है। वह सूत्र है -

''हमें राष्ट्रीय स्तर पर किसी भी प्रकार का समझौता न करने वाले युयुत्सु (एग्रेसिव) राष्ट्रवादी होना चाहिए। उपासना-मार्ग के स्तर पर हम सहिष्णु और सभी मत-संप्रदायों का आदर करने की नीति अंगीकार करें और सामाजिक स्तर पर सबको अपने अंदर समा लेने की (एस्सिमिलेटिव) भावना रखें।''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अनुसार व्यवहार रहा तो समस्या का समाधान अपने आप निकल आयेगा। इसके लिए आवश्यक है एक ऐसी संगठित शक्ति, जो कहे और तदनुसार आचरण भी करे कि हिंदुस्थान पर विजातीय संस्कृति का प्रभुत्व स्थापित करने की आकाँक्षा के साथ राष्ट्रीयता का कोई समझौता नहीं हो सकता। पं. दीनदायल जी ने स्पष्ट कहा है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए हजार-बारह सौ वर्ष से चल रहा संग्राम अभी समाप्त नहीं हुआ है। छत्रपति शिवाजी महाराज का कार्य अभी पूरा करना है।

ईसाइयों का प्रश्न

वस्तुतः मूस्लिम समस्या के बारे में पं. दीनदयाल जी की भूमिका इस प्रकार स्पष्ट करने के बाद ईसाई या अन्य अलगाववादी गुटों के बारे में राष्ट्रीय दृष्टि से उन्हें क्या कहना था, इसका अधिक विश्लेषण करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। मुसलमानों जैसी आततायी पद्धति से न सही, किन्तु ईसाई पादरियों ने भी ब्रिटिश साम्राज्य-सत्ता की छत्रछाया में हिंदुओं को परंपरागत संस्कृति से तोड़ने का बहुत ही संगठित प्रयास किया, इसमें कोई संदेह नहीं। इसके लिए उन्होंने बहुत धूर्तता से धन और विविध क्षेत्रों में चलाये सेवा-कार्यों का उपयोग किया। ईसाई चर्च के इस उद्योग से राजनीतिक उद्देश्य चिपके थे, जिसका निर्णायक प्रमाण पुराने मध्य प्रदेश की सरकार द्वारा नियुक्त नियोगी आयोग के प्रतिवेदन (रिपोर्ट) में दिया गया है। उदाहरण के लिए राँची और छोटा नागपुर क्षेत्र में कार्य करने वाली 'आदिवासी महासभा' को लीजिए। इस संस्था का नाम मूलतः 'छोटा नागपुर क्रिश्चियन असोसिएशन' था। आगे चलकर उसका नामकरण 'आदिवासी उन्नति सभा' और उसके बाद 'आदिवासी महासभा' कर दिया गया। स्वतंत्र झारखंड की माँग इसी 'आदिवासी महासभा' ने रखी। उक्त प्रतिवेदन में वह सारा पत्रव्यवहार भी दिया गया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश शासकों, मुस्लिम लीग और 'आदिवासी महासभा' ने मिलकर भारत के विभिन्न भागों में अलग-अलग 'स्थान बनाने की माँग प्रस्तुत करने के लिए कैसे-कैसे प्रयास किये। उन्हें मिलने वाली आर्थिक सहायता का भी उसमें उल्लेख है। बंगाल, असम, छोटा नागपुर, संथाल परगना और उससे लगे वनवासी क्षेत्रों को मिलाकर एक 'बंगासम' संघराज्य बनाने का षड्यंत्र बहुत कुछ आगे बढ़ चुका था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
इन राज्यों के कुछ भागों में मुसलमानों और कुछ में ईसाई मिशनरियों को खुली छूट देने की योजनाएँ देखने पर यह निर्णय करना कठिन नहीं रह जाता कि भारत की भूमि को आपस में बाँट लेने की घात लगाये बैठे लोगों की भूमिका धार्मिक अल्पसंख्यकों की थी या भारत-विरोधी लुटेरे आक्रांताओं की? इसी से आज उत्तरपूर्व भारत में मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड आदि प्रदेशों में अलगाववादी विद्रोहियों की समस्या उग्र बनी है। केरल और तमिलनाडु में भी ईसाई आक्रमणशीलता ने सिर उठाया है। ये सब इस भूल के कटु फल हैं कि ब्रिटिश शासन का अस्त होने के बाद हमारे अपने शासन से विशुद्ध राष्ट्रीय नीति का अवलंब नहीं किया। सबको विदित है कि ब्रिटिश शासनकाल में लोगों को राष्ट्रीयता की भावना से तोड़ने के लिए शिक्षाप्रणाली का उपयोग बहुत ही चालाकी से किया गया। एक ओर गिरिवनवासियों और परिस्थिति के मारे निर्धन लोगों का धर्मपरिवर्तन और दूसरी ओर शिक्षा के माध्यम से परंपरागत व्यवस्थाओं में अनास्था उत्पन्न करने का प्रयास; ऐसा दोहरा आक्रमण यूरोपीय संस्कृति ने हम पर किया। हमें अधिकाधिक आत्मविस्मृति, हीनभावना और आत्मनिंदा की खाई में धकेल दिया और स्वधर्म से हटा दिया। हमारे स्वाभिमान और गर्व की धार इसने भोंथरी बना दी। दीनदयाल जी ने 'गुरुपूजा-स्वदेशी और विदेशी' शीर्षक एक बहुत ही मार्मिक लेख लिखा है। उसमें उन्होंने इस देश में धर्मपरिवर्तन का स्वरूप समझाने के लिए लार्ड मैकॉले के बहनोई सर चार्ल्स ट्रैवेलियन के साक्ष्य ने एक विस्तृत अंग्रेजी-उद्धरण दिया है। इस संदर्भ में उन्होंने कहा है कि "मुसलमानों की भाँति अंग्रेजों ने भी भारतीयों को धर्मभ्रष्ट तो किया, किन्तु उन्होंने उपासना-पंथ और धर्मपरिवर्तन के प्रयत्नों में मुसलमानों जैसी आततायिता नहीं की। परिणाम यह कि धर्मभ्रष्टों को पहचान पाना दूभर हो गया। ये धर्मभ्रष्ट लोग हमारे नेता बन गये और हमें अधःपतन की ओर खींचने लगे। ऐसे लोगों के हाथों में राष्ट्ररथ की बागडोर हो, तो यही कहा जायेगा कि भारत का गुरुत्वाकर्षण-केन्द्र भारतीय जीवन में नहीं, कहीं बाहर है।"

विगत 36 वर्षों में इस प्रसंग में स्थिति और भी बिगड़ गयी है। यहाँ के ईसाई समाज में भी राजनीतिक आकाँक्षा जाग गयी है। चुनावों मे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
ईसाई-मतों और कहीं-कहीं निर्मित हुई ईसाई बहुसंख्या के दबाव से राजनीतिक सुवधिाएँ प्राप्त करने का प्रयास उन्होंने प्रारंभ कर दिया है। ईसाई जनसंख्या को बढ़ाने का प्रयत्न व्यापक स्तर पर ईसाई 'सेवासंस्थाएँ' कर रही हैं। इसके लिए ईसाई मत-प्रचारकों को दोष देने से कोई लाभ नहीं होगा। काँग्रेस के एक नेता और संविधान-सभा के एक सदस्य स्व. हरिभाऊ पाटसकर बड़े खेद के साथ एक बात का उल्लेख किया करते थे। संविधान-सभा में अल्पसंख्यकों के बारे में चर्चा प्रारंभ हुई और मूलभूत अधिकारों का स्वरूप क्या हो, इस पर विचार कर निर्णय किया जाने लगा तो सभी ने यह स्वीकार कर लिया कि भारत में धार्मिक स्वतंत्रता होनी चाहिए। किन्तु यह निर्णय भी प्राय: सर्वसम्मति से हो गया कि धर्मप्रचार की स्वतंत्रता नहीं दी जानी चाहिए। इस बात की भनक पड़ते ही अनेक ईसाई मिशनरी यहाँ से अपना बोरिया-बिस्तर समेट कर वापस स्वदेश लौट जाने की तैयारियाँ करने लगे थे। किन्तु पं. जवाहरलाल नेहरू चाहते थे कि धर्मप्रचार की स्वतंत्रता देश में होनी चाहिए। उन्होंने एक वक्तव्य दिया कि 'धर्मनिरपेक्ष' (सेक्युलर) भारत में किसी को भी अपने धर्म का प्रचार करने देना चाहिए। जो धर्म अच्छा होगा, टिका रहेगा। अधिकतर उनके इस आग्रह के कारण ही हमारे संविधान में धर्मप्रचार की स्वतंत्रता भी दी गयी। यह तो सभी ने देखा है कि इस स्वतंत्रता का उपयोग विगत 36 वर्षों में ईसाई मिशनरियों ने किस प्रकार किया। प्रलोभन देकर अथवा अन्य अनुचित उपाय अपनाकर धर्मांतरण कराने पर प्रतिबंध लगाने वाला एक विधेयक संसद में रखा गया था, किन्तु ईसाई धर्मप्रचारकों के सुसंगठित विरोध एवं प्रबल दबाव के कारण सत्ताधारी दल ने इस विधेयक का बेड़ा गर्क करा ही दिया। इसमें भी हमारे राज्यकर्ताओं की अदूरदर्शिता का ही परिचय मिला। आज वास्तविकता यह है कि समूचे एशिया में ईसाई प्रचारक एक भी इस्लामी या कम्युनिस्ट देश में अपने मत का प्रचार नहीं कर सकते, मजहब परिवर्तन नहीं करा सकते। उन्हें उन्मुक्त क्रीडांगन केवल भारत में ही मिला है! अत: यहाँ उन्होंने अपनी मनुष्यशक्ति और धनशक्ति को एकत्रित किया है। मुसलमानों को पेट्रोडॉलर मिलते हैं और ईसाइयों को ईसाई राष्ट्रों से अथाह धनराशि प्राप्त होती है। इस कारण इन दोनों का संकट गहराया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संकट का निराकरण करने के लिए धर्मप्रेम जगा, आत्मविस्मृति को दूर करना, लोगों में स्वाभिमान उत्पन्न करते हुए परानुकरण की प्रवृत्ति को थामना आदि मार्ग पं. दीनदयाल जी ने बताये हैं। उन्होंने अपना प्रत्येक विचार, अपने राष्ट्रीयत्व और स्वतंत्रता के संदर्भ से किंचित् भी न हटते हुए, विशिष्ट सूत्र में पिरोया है। भारत के अल्पसंख्यकों की समस्या का स्वरूप उन्होंने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में रखा और इस बात का विश्वास दिलाया है कि राजनीतिक स्वार्थ या राष्ट्रीयता की संभ्रमित कल्पनाओं को प्रश्रय न देते हुए, राजनीतिक उद्देश्यों से चल रही आक्रामक कार्रवाइयों का प्रतिकार राष्ट्रीय समाज के प्रभावशाली संगठन द्वारा आक्रांताओं का राजनीतिक पराभव करने से ही किया जा सकता है। जनजागरण और संगठन का यह कार्य उन्होंने प्रत्येक मंच एवं उपलब्ध हर साधन का उपयोग करते हुए जीवनभर किया। उन्होंने कहा कि यूरोपीय एवं इस्लामी आकाँक्षाओं का पराभव राष्ट्रीय जनता को ही करना चाहिए। इसी प्रकार उन्होंने विदेशी कम्युनिस्ट विचारों को परास्त करने के लिए भावात्मक भूमिका से आह्वान किया। अशास्त्रीय एवं अप्राकृतिक प्रादेशिक राष्ट्रवाद के प्रादुर्भाव, देश को उसके कारण उठानी पड़ी हानि और आज भी हो रहे अनिष्ट को देखते हुए सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के सिद्ध संजीवन-मंत्र को राष्ट्र स्वीकार करे इसकी आवश्यकता प्रति क्षण अनुभव की जाती है। इसी लगन से पं. दीनदयाल जी निरंतर कार्यरत थे।

○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

12

हिंदू सब एक

मातृभूमि, लोगों के मन में मातृभूमि के प्रति भक्तिभावना और एकता प्रदान करने वाली संस्कृतिधारा पं. दीनदयाल जी के सारे राष्ट्रचिंतन का आधार थी। हम इससे पहले देख ही चुके हैं कि एक राष्ट्र में एक ही राष्ट्रीय संस्कृति होती है और उस संस्कृति के लिए बाधक बनने वाले लोग वहाँ राष्ट्रीय नहीं होते, यह बात उन्होंने दृढ़तापूर्वक कही थी। पाकिस्तान के निर्माण के समय प्रदर्शित राष्ट्रनेताओं के समझौतावाद के कारण राष्ट्रभावना निःसंदेह क्षीण हो गयी और समस्याओं का जंजाल खड़ा हो गया। पं. दीनदयल जी के जीवनकाल में पंजाब और असम की समस्याएँ आज के भीषण रूप में सामने नहीं आयी थीं। प्रत्युत् कुछ समय तक जनसंघ और अकाली मिले-जुले (सम्मिश्र) मंत्रिमंडल में थे। दोनों में पूर्ण सद्भाव था। सिखपंथियों में 'हम हिन्दू नहीं हैं' कहने की लहर भी उस समय इस प्रकार नहीं उठी थी। उसी प्रकार दलितों की समस्याएँ भी आज के जैसे उग्र रूप में सामने नहीं आयी थीं। राजनीतिक दलों की स्वार्थी एवं राष्ट्रहित की दृष्टि से अदूरदर्शितापूर्ण नीतियों के कारण ही ये समस्याएँ आज मुँह बाए खड़ी हैं। इन समस्याओं का पं. दीनदयालजी द्वारा लाया गया समाधान है राष्ट्रीय एकात्मता की भावना को सुदृढ़ करना और अलगाववादी राजनीतिक आकाँक्षाओं को कदापि प्रश्रय न देना। यही एकमात्र उपाय है। यहाँ भी उपासना-मार्ग का अंतर राष्ट्रीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकता के मार्ग में रोड़ा बनने का कोई कारण नहीं है। किन्तु आज यह धारणा फैलायी गयी है कि राष्ट्रीय एकात्मता-'नेशनल इण्टिग्रेशन' - का अर्थ केवल मुसलमान, ईसाई या अन्य साम्प्रदायिक गुटों की शिकायतों एवं बढ़ी-चढ़ी माँगों का विचार करना है। मुसलमानों द्वारा दंगे किये गये तो उतने समय के लिए कुछ दौड़धूप होती है और राष्ट्रीय एकात्मता पर प्रवचन दिये जाते हैं। इस बात की उपेक्षा की जाती है कि हिंदुओं की एकता भी राष्ट्रीय एकात्मता लाने की महत्त्वपूर्ण सीढ़ी है। आज सत्ताधारी दल एवं राष्ट्रीय कहलाने वाले समाचार-पत्रों में हिंदू और सिख, हिन्दू और हरिजन, हिंदू और नवबौद्ध आदि शब्दप्रयोग किए जाते हैं। ये शब्द प्रयोग अकारण ही द्वैत भावना का परिपोषण करते हैं। 1931 तक गिरिवनवासी लोगों ('एबोरिजिनल्स' अथवा 'आदिवासी' कहलाने वालों) का समावेश हिंदुओं में ही होता था। किन्तु बाद में हिंदुओं से उन्हें अलग मानने की नीति अंग्रेज सरकार ने अपनायी।

उसी समय इन तथाकथित आदिवासियों और ईसाइयों के पृथक् राज्यों की माँग का बीज बोया गया। असम, मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड आदि भागों में वनवासी बांधवों को 'ट्राइबल्स' की संज्ञा दी गयी। परंपरा से जो हिंदू थे, उन्हें भी हिंदुओं से अलग मानने का क्रम चलाया गया। उन्हें धर्मविहीन बताया जाने लगा। इसके कारण एक तो इनका धर्मपरिवर्तन करना सरल हो गया और अलगाववाद के भूत जगाने का राजनीतिक उद्देश्य भी सफल हो गया। वनवासी बांधवों में उनके हिंदू होने का बोध जगाकर उन्हें फिर से राष्ट्रीय जीवनधारा में लाने के लिए विशेषतः विश्व हिंदू परिषद् द्वारा किये जा रहे प्रयासों से ईसाई मिशनरी विलक्षण रूप से जल रहे हैं। किन्तु पं. दीनदयाल जी के विचार से राष्ट्रीय एकात्मता का अर्थ है एक ओर प्रकृति से ही हिंदू-संस्कृतिधारा में रह रहे लोगों में आत्मीयता की भावना को पुष्ट करना और दूसरी ओर से इस धारा से दूर रहने वालों को प्रवाह में लाकर उसके साथ एकरस बनाना। हिंदू एकता से यह प्रवाह पुष्ट होगा और दूसरों को अपने में समा लेने की उसकी क्षमता बढ़ेगी। इस प्रवाह से टूटे हुए विभिन्न प्रवाहों की शक्ति अपने आप क्षीण होकर वे अदृश्य हो जायेंगे। सबको समा लेने का गुण संस्कृति के इस प्रवाह में पहले से ही है। अतः सिख, जैन, बौद्ध,
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिजन, वनवासी आदि समाजगुटों को हिंदू समाज के बाहर मानना राष्ट्रीय एकात्मता-सूत्र को दुर्बल बनाकर विघटन को बढ़ावा देना है। राष्ट्रजीवन के विशाल पट पर इन सबका समान सम्मान का स्थान है। सभी हिंदू समाजपुरुष के अवयव हैं। विभिन्न अवयवों के काम अलग-अलग ही क्यों न हों, सब मिलकर शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। यह शरीर स्वस्थ न बने और उसका विघटन ही होता जाये, ऐसी स्वार्थपूर्ण कामना रखते हुए विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने वालों की आज कमी नहीं है। ऐसे लोगों में अपने भी हैं और पराये भी। सत्ता या संपत्ति के संकीर्ण स्वार्थ के लिए, जो अपने हैं, वे परायों के हस्तक बन गये हैं। दलित-समस्या भी एक ऐसा ही मर्मपीड़क रोग है। प्रांजलता से यह स्वीकार करना चाहिए कि सामाजिक विषमता के व्यवहार से इन समाजबांधवों पर सदियों से घोर अन्याय होता रहा है। वास्तविकता तो यह है कि इन लोगों के प्रति कथित उच्च वर्णियों ने सामान्य मनुष्यता भी नहीं दिखायी। किन्तु विगत साठ-सत्तर वर्षों में स्थिति बहुत कुछ बदल गयी है। सरकार द्वारा बनाये गये विधान, हिंदू एकता-बोध की बढ़ती जागृति, औद्योगीकरण, नगरों का विकास, वर्ण एवं जातिप्रथा की कालानुसार टूट चुकी चौखट और दलित-पीड़ित लोगों में फट पड़ा विक्षोभ आदि बातों के कारण विषमता के व्यवहार पर बहुत कुछ प्रतिबंध सा लग गया है। किन्तु फिर भी अन्तःप्रेरणा से सर्वत्र समता और आत्मीयता का आचरण निरपवाद होता अभी दिखाई नहीं देता। आज भी देश के विभिन्न भागों में इन लोगों के साथ विषमता का व्यवहार किये जाने के अप्रिय दृश्य देखने को मिलते हैं। मीनाक्षीपुरम् जैसी सामूहिक धर्मपरिवर्तन की घटनाएँ होती हैं। इसके लिए उद्वेग, हताशा और उनसे उत्पन्न प्रतिशोध की भावना भी एक कारण है ही। दलितों के नेता कहलाने वाले कुछ लोग निहित स्वार्थवश कहीं अन्तर्राष्ट्रीय ईसाई संगठन, तो कहीं मुस्लिम संगठन का समर्थन प्राप्त कर रहे हैं। डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर द्वारा गांधी जी के साथ किये गये पुणे-समझौते के विरुद्ध दलितों के कहलाने-वाले एक संगठन ने बावेला मचाने का प्रयास किया। यह तो एक अनुसन्धान का विषय है कि इसमें वह संगठन किसी प्रेरणा पर काम कर रहा था। दलित-नेता कहलाने वाले कुछ व्यक्ति अपने समाजबांधवों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी दृष्टियों से ऊपर उठाने और उस काम में आत्मीयता का प्रामाणिक भावना से सहयोग देने वालों का सहयोग प्राप्त करने के स्थान पर बन्धुओं में विद्वेष एवं अलगाववादी भावना के विषबीज बोते हों तो उनकी इस राजनीतिक चाल को भी विफल करना आवश्यक हो गया है।

यह तो रही समानता की एक भूमिका। दूसरी भूमिका इसी विचार और हिंदू तत्त्वज्ञान से संलग्न है।

विष्णुमय जग, वैष्णवों का धर्म

भेदभाव भ्रम अमंगल।।

अथवा

भक्ति यहाँ तक चले, जाति अप्रमाण

इन संतवचनों में उस तत्त्वज्ञान का संस्कार प्रतिबिंबित हुआ है। यह विचार आध्यात्मिक समता का है। 'आत्मा सब में एक'-इस ज्ञान एवं आत्मानुभूति का आधार उसे प्राप्त है। 'जगत् के कण-कण में भगवान' उसी अनुभूति से प्रस्फुरित होने वाला उद्गार है। किन्तु सामान्य लोगों के जीवन में यह व्यवहार उतरा नहीं है और वहाँ आज भी सामाजिक विषमता, उच्चनीच भावना विद्यमान है। आज राष्ट्रीय संगठन करते समय समस्या यह है कि कैसे इस रूढ़ि द्वारा निर्मित विषमता एवं अलगाव की भावना को दूर कर व्यवहार में समानता लायें? हिंदू-एकता के लिए कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं को यह मानसिक बाधा बहुत अखरती है। आज तो स्थिति यह आ गयी है कि हिंदू समाज के उपेक्षित लोगों का एक भाग हिंदुत्व को ही नकारने और अपने आपको उच्च वर्णीय मानने वालों के विरुद्ध हर संभव मार्ग से प्रत्याघात करने को उद्यत हो गया है। इससे वातावरण बहुत ही विस्फोटक हो गया है। विधान इस प्रसंग में हतबल है। अतः इस राष्ट्रीय विघटन की समस्या का भी समाधान फिर से दीनदयाल जी के बताये मार्ग से ही संभव होगा। वह मार्ग है राष्ट्र को केन्द्रबिन्दु मानकर, व्यक्ति के विकास को पूरा अवसर देते हुए, संघर्ष के बजाय समन्वय के मार्ग का अवलंब करना। यही श्रेयस्कर है। हिंदू राष्ट्र की व्यापक परिधि में सबको प्रतिष्ठापूर्वक समा लेना, एकता की भावना सबके अन्तकरण में जगाना, विकृत हो चुकी पुरानी रूढ़ियों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्यागना और नयी व्यवस्थाओं को लाना ही हिंदू जीवन-दृष्टि के साथ सुसंगत होगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने जो सहजीवन का निर्माण किया है, वैसा व्यापक परिमाण में निर्माण करते हुए आत्मीयता के आधार को उसके लिए दृढ़ बनाना इस समाधान का व्यावहारिक पक्ष है।

समता में तारतम्य

आधुनिक विश्व में समता का उद्घोष तो यद्यपि हो रहा है, फिर भी समता की इस कल्पना के लिए कोई तारतम्य भी स्वीकारना पड़ता है। हमारा अनुभव है कि भौतिक दृष्टि से कोई भी दो व्यक्ति कभी भी शत प्रतिशत समान नहीं हुआ करते। उनके रंगरूप और शरीर-रचना की भाँति उनके गुणों में भी अंतर होता है। अतः समता की हिंदू विचारकों द्वारा रखी गयी दृष्टि को अधिक सतर्कतापूर्वक समझ लें तो कटुता कम होने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। मूल मान्यता यह है कि व्यक्तियों की गुणवत्ता कितनी ही भिन्न क्यों न हो, हरेक को उसकी अपनी सहज प्रवृत्तियों एवं गुणों के अनुसार काम सौंप देने पर भी सारे कार्य समान प्रतिष्ठा के ही होते हैं। इसे ही स्वधर्म कहा गया है और ऐसा असंदिग्ध आश्वासन दिया गया है कि स्वधर्म का पालन ही भगवान की पूजा है। अतः स्वधर्मानुसार किये गये कर्मों में ऊँच-नीचता आने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। उस कर्म को अनासक्त भाव से करने पर उसका दोष मनुष्य पर नहीं आता। यही श्रमप्रतिष्ठा का विशुद्ध विचार है। हम देखते हैं कि भगवतधर्म के माननेवाले में नाना प्रकार के लौकिक व्यवसाय करने वाले संतपुरुष हो गये। सभी अन्त में जीवन-सफलता के समान गन्तव्य पर पहुँचे।

व्यावहारिक दृष्टि से दूसरा विचार यह है कि समाज को सुस्थिर, उन्नत चरित्र और विकासोन्मुख रखने के लिए किन्हीं तत्त्वों के अनुसार मनुष्य को अपने भौतिक जीवन की रचना अपरिहार्यता से करनी पड़ती है। गुणवत्ता के अनुसार कुछ लोग विशेष उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर पहुँचते हैं। उन्हें विविध क्षेत्रों में नेतृत्व प्राप्त होता है। मनुष्य इस श्रेणी का हो तो स्वभावतः उसे सर्वसामान्य लोगों से अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। आज राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्री या किसी संस्था अथवा संगठन का अध्यक्ष प्रतिष्ठा के पद माने जाते हैं। किन्तु ऐस पदों के लिए प्रतिस्पर्द्धा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी विकट होती है। अनेक समाजगुट आकाँक्षा रखते हैं कि उनका कोई व्यक्ति उस पद पर पहुँचे। इस स्पर्द्धा का कारण क्या है? यही न, कि उन पदों में सत्ता, संपत्ति, भोग के साधन और प्रतिष्ठा जुड़ी होती है। मंत्रीपद के साथ न केवल सत्ता हाथ में आती है, अपितु कोठी, मोटर, नौकरचाकर, सरकारी व्यय से प्रवास, निःशुल्क दूरभाष, साज-सज्जा एवं अन्य सुखसुविधाएँ भी मिलती हैं। अपना घर भरने के अवसर प्राप्त होते हैं। मूलतः हमारे समाज में कभी ऐसी व्यवस्था हुआ करती थी कि पद या स्थान जितनी अधिक प्रतिष्ठा का, उतने ही संपत्ति और भोग के अवसर कम हुआ करते थे। ऋषियों एवं तपस्वियों की प्रतिष्ठा बहुत थी। राजा भी खड़ा होकर उनका स्वागत करता और उन्हें उच्चासन पर विराजमान करता था, उनके सामने नतमस्तक होता था। वे लोग समाजजीवन के धर्मात्मक यमनियम बताया करते थे, किन्तु उनका अपना जीवन निःसंग, भोगों से अलिप्त, स्वार्थ विरहित एवं पूर्णतः ईश्वरसमर्पित होता था। उनके जीवन-चरित्र में आसक्ति का छोटा सा धब्बा भी नहीं होता था।

हमारे यहाँ ऐसे प्रतिष्ठाप्राप्त विरागी पुरुषों के अनेक उदाहरण मिलेंगे जिन पर समाज या राष्ट्र के संबंध में कोई दायित्व जन्मवश या परिस्थितिवश आ पड़ा था। सारे वैभव में उलझे बिना उसका परित्याग करने की क्षमता उनमें थी। चंद्रगुप्त का अमात्यपद आर्य चाणक्य ने कुछ समय के लिए विभूषित किया था। अधर्मी नंद का विनाश उन्हीं ने करवाया। किन्तु कुटिया वाला सरल रहनसहन अमात्य बनकर भी नहीं छोड़ा। राक्षस के समान सुयोग्य अमात्य चंद्रगुप्त की सेवा के लिए प्राप्त होते ही पल भर में अपने अमात्यपद का त्याग कर वे फिर से ईश्वरसाधना की ओर मुड़ गये। कुन्ती साक्षात् राजमाता थी। पाण्डवों ने युद्ध जीत लिया और युधिष्ठिर सिंहासनारूढ़ हो गये। किन्तु कुन्ती वानप्रस्थ लेकर वन में जाने के लिए चल पड़ीं। धर्मराज ने कहा "हमें युद्ध करने के लिए आपने ही प्रवृत्त किया था और अब जबकि हमारी विजय हो गयी है, आज कहाँ चली जा रही हैं?" इसपर कुन्ती ने उत्तर दिया-"तुम क्षत्रिय हो, तुम्हे स्वधर्म का पालन करने के लिए प्रवृत्त करना मेरा काम ही था। अधर्म से संघर्ष तो तुमको ही करना था, वह तुमने कर लिया। अब मुझे राजवैभव की कोई आसक्ति नहीं है। अब तो
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जेठ-जेठानी के साथ वानप्रस्थ ग्रहण करना ही मेरा धर्म है।'' रामायण के भरत तो मूर्तिमंत अनासक्त ही थे। राम की पादुकाओं को सिंहासन पर रखकर उन्होंने चौदह वर्ष राज्य सँभाला। चाहते तो राज्य को सरलता से हड़प सकते थे। राम तो उनसे 'मेरा राज्य मुझे वापस दो' कहने वाले थे नहीं। किन्तु राम समय पर वापस न आये तो भरत अग्नि काष्ठ भक्षण करने के लिए सिद्ध हो गये! राम या कृष्ण, किसी ने व्यक्तिगत आसक्ति से कोई काम नहीं किया। केवल कर्मयोग का पालन किया। 'यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनाः' (श्रेष्ठ लोग जैसा-जैसा आचारण करते हैं, अन्य लोग भी उसी का अनुकरण करते हैं।) यह सामान्य लोगों का स्वभाव ध्यान में रखकर उन्होंने आचरण किया। ऐसे व्यवहार में से कोई विषमता नहीं झाँकती। कहीं भी असूया उत्पन्न नहीं होती। समाज में प्रतिष्ठा और पद आसक्ति या ईषणा की तृप्ति का साधन बनते हैं तो समाज में शोषण की प्रवृत्ति बढ़ती है, संघर्ष बढ़ता है और वातावरण दूषित हो जाता है। इसलिए हमारे यहाँ बिना आर्थिक या राजनीतिक आधारवाला, स्वयंसिद्ध एवं नैतिक अधिकार संपन्न नेतृत्व ही प्रमाण माना जाता है। ऐसा नेतृत्व ही सत्ताधारियों तथा प्रशासकीय व्यवस्थाओं पर अंकुश रख सकता है। इसे ही ऋषिशक्ति कहा गया है। शायद आज ऐसी शक्ति राजनीति निरपेक्ष संगठन के रूप में खड़ी करनी पड़ेगी। कारण, आज राज्य-सत्ता में आने वाले लोगों को प्रजा के अभ्युदय की चिन्ता करने और आत्मिक कल्याण के लिए उसे निर्बाध वातावरण प्राप्त करा देने के मूल राजधर्म का विस्मरण हो रहा है। निरंकुश बनने की प्रवृत्ति उनमें बढ़ रही है। ऐसे समय सत्ताधारियों पर अंकुश रखने वाले स्वतंत्र ऋषितंत्र, ऋषिशक्ति की राष्ट्र को नितान्त आवश्यकता है।

मूल व्यवस्था में श्रमिकों, किसानों तथा व्यवसाय करने वालों को भौतिक भोगों की छूट अधिक हुआ करती थी। किन्तु उन्हें ऋषियों एवं विरागी सत्ताधीशों जैसी प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त होती थी। ज्ञान और चरित्र का प्रवाह शीर्ष नेतृत्व से नीचे की ओर रिसता आता था, तो नीचे जनसामान्य के धरातल पर भौतिक सुविधाएँ अधिक और ऊपर समाजनेताओं की श्रेणी में उनकी मात्रा कम हुआ करती थी। इसमें प्रकृतिधर्म के अनुसार प्रत्येक को संतोष प्राप्त होता था। किसी को किसी प्रकार की विषमता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव नहीं करनी पड़ती थी और जिस बात की कमी हो; उसे तुरन्त पूरा कर दिया जाता था। बिना तपस्या के कोई अपने को ऋषि की प्रतिष्ठा मिलने का हठ नहीं करता था। जीवन-सफलता की अंतिम सीढ़ी पर पहुँचने के लिए अपनी क्षमता के अनुसार मार्ग चुनकर अपना विकास करने का पूरा अवसर सबको प्राप्त होता था। प्रगति-पंथ मुक्त था। आज चूँकि ऐसा दृश्य कहीं दिखाई नहीं देता, उसका आकलन कर पाना कठिन प्रतीत होता है।

हिंदुत्व गर्व का विषय

किन्तु 'सब धान बारह पसेरी' वाली पद्धति से समता का विचार करने की अपेक्षा भारतीय समता-कल्पना अधिक प्राकृतिक, विकासानुकूल, स्नेहमयी और सन्तोष दिलाने वाली है। वह सारे समाज की गुणात्मकता का स्तर बढ़ाने वाली भी है। यह गृहीत माना गया है कि प्रत्येक व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताएँ-जैसे अन्न, वस्त्र, आवास, शिक्षा, वैद्यकीय सुविधाएँ आदि-समान होती हैं और इनको पूरा करने की तत्परता किसी भी व्यवस्था में होनी ही चाहिए। इन आवश्यकताओं के बारे में जन-मानस में निश्चिंतता हो, तभी विकास का मार्ग निरापद हो सकता है। व्यक्तिगत अपवादों का विचार इसमें नहीं है। बाद में भौतिक आवश्यकताओं को असीम बढ़ाते जाना, फिर उनकी पूर्ति के लिए समानता की अपेक्षा करना मूलतः समता की भ्रान्त धारणा है। सामाजिक न्याय का सिद्धांत यही है कि कोई किसी का शोषण न करे और समृद्धि का लाभ सबको प्राप्त हो। ऐसा सर्वांगीण विचार करते हुए, 'समता बरतें, अहंता छोड़ें' वाले संत वचनानुसार आचरण रखें तो समाज को विघटित बनाने का कारण बनने वाले स्पर्द्धा, असूया, कटुता, विद्वेष, कलह, उपेक्षा आदि दोषों को प्रश्रय ही नहीं मिलेगा। हिंदू जीवन-विचार के समन्वय और परस्परपूरकता के तत्त्वों को ध्यान में रखकर रचना की जायेगी तो हिंदू समाज के हितशत्रुओं द्वारा अपने स्वार्थ के लिए पोषित विघटन के सारे राष्ट्रघाती विषबीज निर्मूल हो जायेंगे। और यहाँ सुंदर समन्वय करते हुए समूचे जीवन को इष्ट दिशा देना हिंदू राष्ट्र की एक अनन्य विशेषता रही है। किन्तु समाजधारणा के इस विचार के विशुद्ध रूप को हमने आँखों से ओझल होने दिया। उसमें विकृति की दुर्गन्ध हमने उत्पन्न होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी। पाश्चात्य अथवा कम्युनिस्ट प्रणालियों और उन राष्ट्रों में प्रत्यक्ष पाये जाने वाले लोकजीवन का सूक्ष्म विचार करें, तो तत्त्व या व्यवहार की दृष्टि से हमें मोह लेने वाली क्या बात उनमें है? भौतिक समृद्धि की चकाचौंध, व्यक्तिस्वातंत्र्य के नाम पर स्वैराचार अथवा राजसत्ता के सर्वंकष प्रभाव के नीचे एक आर्थिक प्राणी के नाते अस्तित्व में ही मानव जीवन की प्रतिष्ठा मान लेना हिंदू राष्ट्र का स्वभाव नहीं है। वैसी उसकी परंपरा भी नहीं है। हमारा मार्ग मनुष्य के समग्र विचार का उस विचार के अनुसार समाज जीवन और राष्ट्र के निर्माण का तथा उसमें से प्रत्येक व्यक्ति को सुख की अनुभूति, आत्मिक संतोष की प्रेरणा और राष्ट्र के लिए सामूहिक अभ्युदय की प्राप्ति कराने का है। वास्तव में हमारी स्वतंत्रता का अर्थ होना चाहिए था इस मार्ग पर श्रद्धा जगाते हुए अपने जीवन की रचना करने की ओर ध्यान देना। अपने अंदर इस लगाव को जाग्रत करने से हिंदू राष्ट्र की सारी सुप्त शक्ति एवं क्षमता उफन कर प्रकट होगी।

हिंदू शब्द का यह महान आशय ध्यान में लेने के बाद, हम हिंदू हैं, इससे लज्जा अनुभव होगी या हमारा स्वाभिमान जाग्रत होगा? पं. दीनदयाल जी ने अपने राष्ट्रविषयक चिंतन में हिंदूराष्ट्र, भारत, भारतीय, हिन्दुस्थान आदि सारे शब्दों को पर्यायवाचक रूप में मुक्तरूपेण प्रयुक्त किया है। यह नहीं कि उन्हें 'हिंदू' शब्द पर जानबूझकर चिपकाया जाने वाला साम्प्रदायिकता, संकीर्णता या रूढ़िवादिता का आरोप ज्ञात नहीं था। किन्तु फिर भी भारतीय अर्थात् हिंदू कहने में उन्होंने कभी कोई संदिग्धता नहीं रखी। कुछ स्थानों पर तो भारतीय संस्कृति का उल्लेख करते समय कोष्ठक में 'हिंदू संस्कृति' स्पष्टीकरण उन्होंने पाठकों को संभ्रम से बचाने के लिए जानबूझ कर किया है। वस्तुतः ऐसा संभ्रम होने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु फिर भी वह होता अवश्य है। क्यों होता है? कारण यह है कि काँग्रेसी नेता, तथाकथित प्रगतिशील एवं अपने आपको 'सेक्यूलर' कहने वाले आधुनिक आंग्ल विद्याविभूषित विचारक आदि लोग 'इण्डियन कल्चर' का अर्थ 'हिंदू संस्कृति' नहीं लेते थे। आज भी नहीं लेते। पं. नेहरू हिंदुस्थान को एक राष्ट्र तो मानते थे, किन्तु यहाँ एक सम्मिश्र संस्कृति के अस्तित्व का दावा किया करते थे। स्थान-स्थान पर उन्हें भिन्न संस्कृतियाँ दिखाई देती थीं। उन्हें यह निर्विवाद सत्य स्वीकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं था कि सारा भारतवर्ष एक ही हिंदू संस्कृति के बल पर राष्ट्र के रूप में खड़ा है। इस देश को हिंदू राष्ट्र कहना उन्हें मूर्खता की परिसीमा लगती थी। वही विचार आज भी बहुत से काँग्रेसी, समाजवादी, कम्युनिस्ट आदि 'प्रगतिशील' कहलाने वाले गुटों में व्यक्त किया जाता है। इन लोगों के विचार में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिंदुओं का संगठन करता है और अपने आपको राष्ट्रीय कहता है, यह अपने आप में एक बड़ी विसंगति है। संघ की प्रार्थना में आने वाले हिंदुभूमि' और 'हिंदुराष्ट्रांगभूता' शब्द इन लोगों को संकीर्ण प्रतीत होते हैं! संघ के ऐसे अनेक हितैषी भी हैं जो उसे परामर्श देते रहते हैं कि संघ 'भारत' और 'भारतीय' शब्दों को अंगीकार करे और 'हिंदू' शब्द का त्याग करे। किन्तु संघ ने 'भारतीय' और 'हिंदू' दोनों को समानार्थी शब्द माना है। 'इंडिया दैट इज भारत' शब्दप्रयोग में ब्रिटिश कूटनीति का चला आया पूर्व-प्रभाव स्पष्ट है। हिंदुओं को अधिकाधिक आत्मविस्मृत करने का उद्देश्य उसमें निहित है। वस्तुतः भारत, भारतीय राष्ट्र और भारतीय संस्कृति कहने पर हिंदू के अतिरिक्त अन्य किसका बोध होता है? विदेशी लोग भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने यहाँ आने पर किसका अध्ययन करते हैं? इस्लामी या ईसाई संस्कृतियों का अध्ययन करने के लिए तो वे तुर्कस्थान, मक्का, मदीना या रोम-स्थित वैटिकन सिटी जा सकते हैं। भारत में आकर वे हिंदू परंपरा, प्राचीन संस्कृत साहित्य और यहाँ के परंपरागत जीवन-मूल्यों का ही अध्ययन करना चाहते हैं।

राष्ट्रीय संगठन का आधार

'हिंदू' शब्द का त्याग करने को कहने वालों के मन में या तो यह भाव होता है कि इस शब्द के कारण हमारा राष्ट्रीयत्व संकीर्ण बन जाता है, या फिर उन्हें सत्ता की राजनीति की दृष्टि से वह शब्द सुविधा का नहीं लगता। उन्हें भय होता है कि करोड़ों मुसलमानों और ईसाइयों के मत शायद उन्हें नहीं मिलेंगे। उनकी यह भ्रांत धारणा बनी होती है कि राष्ट्र कहते ही मुस्लिम और ईसाई समाजों को उसमें कोई स्थान नहीं होगा। ये दोनों समाज अपनी-अपनी उपासना-पद्धति को बदले बिना भी यदि संस्कृतिधारा के साथ एकरस हो जायें, यहाँ की परंपरा को अपनी परंपरा तथा यहाँ के राष्ट्रपुरुषों को अपने राष्ट्रपुरुष मानने लगें और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतभूमि को अपनी माता मानकर उसकी निष्ठापूर्वक भक्ति करने लगें, तो सहज ही में राष्ट्रीय हो सकते हैं किन्तु यह विचार ही इन लोगों के मन को छूता नहीं। वस्तुतः, राष्ट्रीय एकात्मता की दृष्टि से यह आग्रह आवश्क है। समाचारपत्र और राजनीतिक कार्यकर्ता बड़ी सहजता से 'इंडियन मुस्लिम्स' या 'इंडियन क्रिशिचयन्स' जैसे शब्दप्रयोग करते हैं। इसमें भारत में उन लोगों की नागरिकता एवं वास्तव्य को गृहीत माना जाता है। किन्तु पूछा जाना चाहिए कि क्या भारतीय मुसलमान को हिंदू मुसलमान अथवा भारतीय क्रिश्चियन को हिंदू किश्चियन नहीं होना चाहिए? श्री गुरुजी इस विचार को बहुत ही स्पटष्ता से रखा करते थे। 'हिंदू मुसलमान कहने का अर्थ होगा कि हिंदू राष्ट्रीयता है और मुसलमान उपासना-पंथ। फिर यह भाव जागेगा कि हिन्दुस्थान की मूलव्यवस्था उन्हें भी स्वीकार है और तदनुसार व्यवहार करने का दायित्व भी। आज 'इंडियन', कहने पर केवल यही भाव जगता है कि वह भारत में रहने वाला है। गुणात्मक आशय राष्ट्रीय विशेषताओं का स्वरूप उससे प्रकट नहीं होता। आज दुर्भाग्य से राजनीतिक नेताओं को इस राष्ट्रीय भूमिका का कोई महत्त्व प्रतीत नहीं होता। कहीं हो भी जाय, तो वैसा स्पष्ट शब्दों में कहने का साहस वे जुटा नहीं पाते। चुनाव में मतों का गणित लगाकर वे दो टूक सत्य कहने से टालमटोल करते हैं।

ऐसी भ्रांत कल्पनाओं एवं नीतियों के कारण हुई राष्ट्र की अवस्था को हिंदू राष्ट्रीयत्व के प्रखर एवं निर्भय पक्षधर बने बिना बदला नहीं जा सकेगा। संगठन का आधार राष्ट्र होता है और भारत के संदर्भ में राष्ट्र का अर्थ हिंदू राष्ट्र ही होता है, यह सूत्र पं. दीनदयाल जी ने पूरी श्रद्धा के साथ लोगों को समझाने का प्रयास किया। उनके इस प्रतिपादन में प्रतिक्रियात्मक विचारों का अंश भी नहीं था। उन्होंने ऐसा कभी नहीं कहा कि मुसलमान या ईसाई अमुक पद्धति से आचरण करते हैं, इसलिए हिंदुओं का संगठन करना चाहिए, और हिंदुत्व का आग्रह रखना चाहिए। प्रत्युत् उन्होंने सदा यही कहा कि हिंदू समाज में दोष घुस आये हैं, राष्ट्र को भुलाकर वह स्वार्थपरायण हो गया है और अंतः कलह में ही उलझ बैठा है, इसीलिए विदेशियों की बन आयी। हिंदू राष्ट्र और उसके अभ्युदय के लिए हिंदू संगठन को उन्होंने बिल्कुल स्वाभाविक भावात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(पाजिटिव) आवश्यकता माना था। मनुष्य क्या इसलिए स्वस्थ एवं बलसंपन्न बना रहना चाहता है कि कोई उसके साथ शत्रुता कर रहा है? कदापि नहीं। सुदृढ़ शरीर धर्म-पालन का साधन होता है। हमारी धारणा है - 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। हिंदू संगठन की घोषणा उन घोषणाओं की श्रेणी में नहीं आती कि किसान और श्रमिक इसलिए संगठित हों कि उनका शोषण किया जाता है, या रूस और अमरीका को परस्पर भय के कारण शस्त्रसज्जित होना चाहिए, अथवा पुरुषों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का प्रतिकार करने के लिए महिलाओं को संगठित होना चाहिए। ऐसी भावना पं. दीनदयाल जी ने कभी व्यक्त नहीं की। अपने राष्ट्र के स्वरूप का चिंतन करते समय उन्हें प्रतीत हुई विकृतियों को उन्होंने बिना लागलपेट के कह दिया और स्वस्थ राष्ट्रजीवन कैसा होता है, इसका चित्र भी सामने रखा। उन्होंने बार-बार पूरी लगन के साथ यही विचार राष्ट्र के सम्मुख रखा कि ये विकृतियाँ भले ही परानुकरण, आत्मविस्मृति या हजारों वर्ष की दासता के कारण क्यों न उत्पन्न हुई हों, उनका निराकरण करना ही होगा। और हिंदू आदर्शवाद के जीवनरस को ग्रहण करते हुए राष्ट्र को स्वस्थ एवं तेजस्वी रूप में विश्व में नियत कार्य पूरा करने के लिए सक्षम बनाना ही होगा। उनकी दृष्टि में भारतमाता समझौते, सौदेबाजी या सुविधा-असुविधा का विषय नहीं, वरन् परम श्रद्धा का विषय है। इस अर्थ में वे रूढ़ राजनीतिक प्रवाह से अलग थे और इस प्रवाह को उचित दिशा देने के लिए कटिबद्ध थे। भावात्मक, निर्लेप, परिस्थितिनिरपेक्ष एवं स्वाभाविक राष्ट्रभावना का प्रकाश फैलाते हुए सारा अँधेरा दूर करने का उनका प्रयास था। विगत पचास-साठ वर्षों में 'भारतीय' शब्द को नितांत दोषपूर्ण राष्ट्रकल्पना का प्रचार करने के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है। आज इस शब्द में 'हिंदू' शब्द जितना प्रेरक एवं तेजस्वी मूल्यात्मक आशय अनुभव नहीं किया जा सकता। हिंदू शब्द द्वारा ध्वनित होने वाले वैश्विक विचार को सीमा में बाँधने के लिए दुर्भाग्य से उस शब्द का प्रयोग चलाया गया है। ऐसे समय पं. दीनदयाल जी का यही कहना है कि हिंदू शब्द से दृढ़तापूर्वक जुड़े रहे बिना न राष्ट्रीय एकात्मकता लायी जा सकेगी, न सुसंगठित समाज का निर्माण ही संभव हो पायेगा। ○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

13

हमारा संविधान

राष्ट्र की एकात्मता को क्षीण करने वाले प्रत्येक विचार को, वह किसी भी क्षेत्र से संबंधित क्यों न हो, पं. दीनदयाल जी ने सदैव घातक एवं त्याज्य ही माना था। उसमें निहित संकट को वे तुरंत ही राष्ट्र के ध्यान में लाने की चेष्टा किया करते थे। एक राजनीतिक दल के नेता होते हुए भी उनकी राष्ट्रहित दक्ष मेधा केवल लोक-रंजन की सतही नारेबाजी के व्यामोह में कभी नहीं पड़ती थी। इस संदर्भ में दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उल्लेख समीचीन होगा। पहला है हमारे संविधान का और दूसरा आनुषंगिक राज्यरचना का। कैबिनैट-मिशन की सत्ता-संक्रमण-योजना के अनुसार भारत की संविधान सभा दिसंबर 1946 से ही काम करने लगी थी। प्रारंभ में मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि इस समिति में बड़ी संख्या में थे। किन्तु 1947 के मध्य में पाकिस्तान के निर्माण का निर्णय होने के बाद अल्पसंख्यकों की समस्या का दबाव संविधान सभा पर नहीं रहा। फलस्वरूप उसके निर्णयों एवं विचार विनिमयों में अधिकाधिक भारतीय मोड़ आने लगा। हिंदी को राजभाषा बनाना, देवनागरी लिपि स्वीकार करना, प्रांतों को अधिक स्वायत्तता देने की नीति में परिवर्तन करते हुए केन्द्रसत्ता को अधिक शक्तिशाली बनाने की दक्षता बरतना, सारे भारत की नागरिकता को एक ही मानना आदि प्रावधान शनैः शनैः संविधान में होने लगे। इन सबका पंडित जी ने खुले मन से स्वागत किया है। 1947

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में संविधान का प्रारूप तैयार करने का अंतिम चरण प्रारंभ हो गया था, तब पंडित जी ने 'भारतीय संविधान पर एक दृष्टि' शीर्षक एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने पर्याप्त आशावादी दृष्टिकोण रखा सा लगता है। उस लेख में आपने लिखा है - "देश की बदलती राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थिति के कारण संविधान सभा और उसके सदस्यों की मानसिकता में जैसे-जैसे परिवर्तन होता जा रहा है, वैसे-वैसे संविधान का स्वरूप भी बदलता जा रहा है। इसीलिए कहा जा सकता है कि हमारे संविधान का विकास हो रहा है। संविधान के प्रारूप में परिवर्तन करने के सुझाव उसकी हर बैठक में आ रहे हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमारा देश धीरे-धीरे अपने स्वाभाविक स्वरूप को पहचान रहा है। अपना स्वरूप क्या है और आत्मा क्या है, इसके ज्ञान का उदय हो रहा है। परतंत्रता के काल में आयी विकृति दूर होकर हमारी अपनी प्रकृति प्रबल होती दिखाई दे रही है। अतः स्वाभाविक है कि इस प्रकृति की अभिव्यक्ति जीवन के सभी क्षेत्रों में होगी और उसका प्रभाव इन क्षेत्रों का नियंत्रण करने वाले हमारे संविधान पर भी पड़ेगा।"

इससे दिखाई देता है कि धारासभा के कुछ प्रस्तावों और उनकी स्वीकृति के कारण पं. दीनदयाल जी की आशाएँ कुछ पल्लवित हो गयी थीं। आगे चलकर उन्होंने राष्ट्र की सहज प्राकृतिक प्रेरणा 'चिति' का जो उल्लेख किया, वह चिति जाग्रत होने का कुछ आभास उन्हें हुआ। फलस्वरूप उन्हें स्वाभाविक हर्ष हुआ। किन्तु अंततोगत्वा संविधान के स्वरूप और उसके बाद सरकार द्वारा स्वीकृत नीतियों के कारण उनकी आशाओं पर पानी फिर गया। बाद में उन्होंने कई बार मत व्यक्त किया कि हमारे संविधान में राष्ट्र की स्वभावगत विशेषताओं को प्रतिबिंबित् नहीं किया जा सका है। विदेशी, विशेषतः अमरीका के लिखित और ब्रिटेन के अलिखित संविधानों में से बहुत सी बातें हमने उधार उठायी हैं। यही नहीं, 1935 के उस विधान की, जिसने स्वराज्य की एक किश्त प्रांतीय स्वायत्तता के रूप में हमें दी थी, छाया हमारे संविधान पर पड़ी है। इस विधान द्वारा ब्रिटिश संसद् द्वारा यहाँ के लोगों को दिये गये अधिकारों में 'फूट डालो और मारो' वाली कुटिल नीति प्रतिबिंबित हुई है। किन्तु ब्रिटिशों द्वारा दिये गए अधिकारों की गहन समीक्षा करते हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिष्ट बातों को अस्वीकार करने का समुचित प्रयास हमारी धारासभा ने नहीं किया। राजनीतिक शीघ्रता के कारण अनेक विभेदकारी प्रावधान ज्यों के त्यों बनाये रखे गये। राष्ट्र को एकात्मता की दिशा में ले जाने के लिए आवश्यक चिंतन नहीं हुआ। सावधानी नहीं बरती गयी। भारतीय प्राचीन परंपरा का भी ग्राह्याग्राह्यता की दृष्टि से अध्ययन नहीं किया गया। किन्तु उस दृष्टि से हमारे संविधान का विश्लेषण इस पुस्तक का विषय नहीं है, अतः उसमें जाना अनावश्यक होगा। उसका उल्लेख यहाँ मात्र यही दिखाने के लिए किया है कि पं. दीनदयाल जी ने इस परानुकरण के दोष को राष्ट्र के लिए हानिकारक माना था।

गलत शब्दप्रयोग

पं. दीनदयाल जी का सबसे बड़ा आक्षेप गलत शब्दप्रयोगों के बारे में था। वे कहा करते थे कि अमरीकी ढंग से हमने अपने यहाँ के प्रांतों-प्रदेशों को राज्य (स्टेट्स) कहा फिर, भारत ऐसे अनेक राज्यों का संघ (फेडरेशन) है, यह गलत धारणा हमने बोयी। यह ठीक है कि प्रत्येक राज्य का अपना स्वतंत्र संविधान नहीं है और राष्ट्र की नागरिकता एक ही है, किन्तु हमारे स्वीकृत संविधान में ही विघटन के बीजों को दीनदयाल जी ने बराबर देखा था। उनका आग्रह था कि भारत की प्रकृति एकात्मक शासन (यूनीटरी फार्म ऑफ गवर्नमेंट) की है। इसीलिए आवश्यक था कि भारत के संविधान के प्रथम परिच्छेद में ही स्पष्ट निर्देश होता कि 'भारत एक एकात्मक राज्य होगा'। काश, ऐसा हो पाता तो बात भारत की स्वाभाविक आकाँक्षाओं के अनुरूप होती। पं. दीनदयाल जी ने कहा था कि 'यूनियन' में पारस्परिक सुविधाओं या स्वार्थ के लिए सहयोग करने की भावना होती है। एकात्मता में राष्ट्रशरीर एक है और प्रांत उसके विभिन्न अवयव हैं, यह भाव प्रकट होता है। इस भावना के साथ सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया, तो संपूर्ण शरीर को उससे बल प्राप्त होता है। राज्यों के बारे मे दीनदयाल जी द्वारा व्यक्त भय बाद के काल में यथार्थ सिद्ध हुआ है। विशेषतः भाषिक राज्यरचना के लिए हुए आंदोलन, उसमें प्रयुक्त असहिष्णु भाषा, राज्यों की स्वायत्तता की बढ़ती माँग, और उसके बाद की अनेक घटनाओं ने दिखा दिया है कि देश में राष्ट्र और राज्य की धारणाओं को मिला दिया जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रादेशिक देशभक्ति की भावनाओं को भड़का कर चुनाव जीतने, उसके लिए प्रादेशिक हितसंबंधों पर आधारित राजनीतिक दलों का निर्माण करने, अन्य राज्यों के बारे में असहिष्णु और परायेपन का व्यवहार करने, नये-नये राज्यों की माँग करने, राज्यों को भाषिक राष्ट्रीयताएँ (लिंग्विस्टिक नेशनलिटीज़) बताने, एवं प्रत्येक प्रदेश की संस्कृति भिन्न होने की भाषा प्रयुक्त करने की प्रवृत्तियाँ बढ़ती ही जाती दिखाई देती हैं। अकाली केशधारियों के आंदोलन जैसे कुछ आंदोलनों में तो विदेश-व्यवहार, प्रतिरक्षा एवं परिवहन के अतिरिक्त अन्य विषयों में केन्द्र के हाथों में कोई सत्ता न हो, यह माँग भी की जा रही है।

अनिष्ट परिणाम-परम्परा

इसी परिणाम-परम्परा में देश में प्रादेशिक दलों के उदय का परिणाम आज देश में पर्याप्त चिंता का विषय बन गया है। दक्षिण में आंध्रप्रदेश में श्री नंदमूरि तारक रामाराव के तेलगू देशम दल ने काँग्रेस (आई) समेत सभी राष्ट्रीय दलों को धूल चटाकर बहुत बड़ी विजय प्राप्त की है। तमिलनाडु में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम और अन्ना द्र.मु.क. दोनों प्रादेशिक दलों की जनमानस पर पकड़ विगत पंद्रह वर्ष में विकट रही है। अन्य किसी भी राष्ट्रीय कहलाने वाले दल की दाल वहाँ नहीं गलती। अकाली दल पंजाब का प्रादेशिक दल ही है। आज यह सत्ता में आ गया है। सत्ता का लालच उसमें इतना प्रबल है कि उसका एक धड़ा आतंकवादी हो गया है और सिखों को हिंदू नहीं मानता। सिखों के लिए स्वतंत्र 'खालिस्थान' के निर्माण की बात करने तक उसका साहस बढ़ गया है। उसी ने पंजाब में हिंसा का नंगा नाच प्रारंभ कर दिया है। काश्मीर और पश्चिम बंगाल भी प्रादेशिक दलों की सत्ता के अधीन हो गये हैं। प्रादेशिक दलों की यह महामारी कहाँ कितनी फैलेगी, केन्द्र-राज्य संबंधों में कितना तनाव बढ़ेगा, और परिणामतः राष्ट्रीय एकात्मता को कितने और कैसे-कैसे आघात सहने पड़ेंगे, कोई नहीं कह सकता। पं. दीनदयाल जी ने इन परिणामों के भय को पहले से ही पहचान लिया था। इस भय से मुक्त होने के कुछ उपाय भी उन्होंने सुझाये थे, यह बात ध्यान में लेना नितांत आवश्यक है। हमारे यहाँ राजनीतिक दलप्रणाली की परिकल्पना प्रमुखतः इंग्लैण्ड में प्रचलित लोकतंत्र के स्वरूप के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे संविधान में की गयी है। किन्तु भारत जैसी अनपढ़ जनता में इस प्रणाली के कारण तुरंत ही कौन सी अनिष्ट प्रवृत्तियाँ बढ़ जायेंगी, किसी ने ठीक से सोचा ही नहीं। कहना पड़ता है कि पाश्चात्य लोकतंत्र-प्रणाली का सूक्ष्म मूल्यमापन कर लेने का धारासभा के विचारकों ने ध्यान नहीं रखा। इसी में लोगों के सिर पर तानाशाही शासन सवार होने की परिस्थिति निर्मित हो सकती है, इस अनुभव की उपेक्षा की गयी। अनिष्ट दल-अभिनिवेश समाजजीवन के निचले स्तर तक रिसता चला जाये तो जाति, पंथ, पैसा आदि के आधार पर हमारा समाज कितना कलह जर्जर हो जायेगा, इसका भी कोई विचार नहीं किया गया। पाश्चात्य लोकतंत्रों और राजनीतिक दलों के बारे में अलेक्जैण्डर सोल्जेनित्सिन ने कहा है - "जिन समाजों में राजनीतिक दल क्रियाशील रहते हैं, उन समाजों का नैतिक स्तर कभी ऊँचा नहीं उठता। द्विदलीय या बहुदलीय प्रणाली के अतिरिक्त क्या राष्ट्रविकास का कोई अन्य मार्ग हो ही नहीं सकता? पश्चिमी लोकतंत्र आज राजनीतिक पैंतरेबाजी और आध्यात्मिक संभ्रम में उलझ गये हैं। इस कुंठा से बाहर निकलने का मार्ग खोजना आज हमारा कर्तव्य हो गया है।" दल-निर्माण के विभेदकारी परिणामों से बचने के लिए कुछ भारतीय विचारकों ने सुझाव दिया है कि समाजजीवन के एकदम निचले स्तर पर ग्रामपंचायतों जैसी लोकतंत्रीय संस्थाओं में चुनाव बंद कर देने चाहिए। वहाँ लोकप्रतिनिधियों का चुनाव सर्वसम्मति से ही किया जाये। चुनाव एकमत से नहीं होते हों तो वे कभी नहीं कराये जायेंगे, यह बात उन्हें स्पष्ट बता दी जानी चाहिए। ऐसा करने से ग्रामीण स्तर पर जातिद्वेष या साम्प्रदायिक स्पर्द्धा क्षीण हो जायेगी। वहाँ फिर ऐसे लोगों को प्रधानता प्राप्त होगी जो गुटबाजी में उलझे नहीं हैं और जनता के विश्वासपात्र हैं। दलीय टकराव समाप्त हो जायेगा और धीरे-धीरे लोग बिना किसी दलीय हस्तक्षेप या मध्यस्थता के अपने प्रतिनिधियों को वरिष्ठ स्तर तक प्रत्यक्ष में चुन कर भेजने में समर्थ हो जायेंगे। प्रत्यक्ष लोकतंत्र (डाइरेक्ट डेमोक्रेसी) अस्तित्व में आ जायेगा। हो सकता है कि वह दलविहीन हो। किन्तु हमारे संविधानकर्ताओं ने इस प्रकार का कोई विचार किया प्रतीत नहीं होता। लोकतंत्र के प्रगल्भ रूप में उन्होंने केवल ब्रिटिश लोकतंत्र को ही माना। उसमें कोई लचीलापन उन्होंने नहीं रखा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीनदयाल जी को यह अंधा और भारतीय पूर्वजों के चिंतन को कतई ध्यान में न लेने वाला उधार स्वीकार नहीं था। यह बात उनकी दृष्टि से छूटी नहीं थी कि प्रादेशिकता, सांप्रदायिकता और भाषा के असहिष्णु दुरभिमान को बढ़ावा देने का काम संविधान के आधार पर किया जा रहा है। संविधान के एक प्रमुख शिल्पकार डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने भी एक भय व्यक्त किया था। उन्होंने कहा था - "If the Constitution which was given by the people unto themselves in November 1949 did not work satisfactorily we would have to say at future time, not that the Constitution has failed but that the man is vile." (नवम्बर 1949 में जो संविधान लोगों ने आत्मार्पित किया, यदि वह संतोषजनक रूप में कार्य नहीं करता तो भविष्य में हमें यही कहना पड़ेगा कि संविधान असफल नहीं हुआ, वरन् मनुष्य ही दुष्ट है।) इस चेतावनी में डॉ. बाबासाहब ने मुनष्य का जो उल्लेख किया है वह तो पं. दीनदयाल जी के अखंड चिंतन का विषय था। मनुष्य के चरित्र-निर्माण के कार्य को ही उनका सारा जीवन समर्पित था। जो भी हो, यह तो मान्य करना ही पड़ेगा कि दीनदयाल जी के द्वारा अनुशंसित भारतीय परंपरा का कोई विचार भारत के इस संविधान में नहीं है।

प्रशासकीय घटकों (एडमिनिस्ट्रेटिव यूनिट) का निर्माण करते समय ध्यान में रखने के लिए एक निकष भाषा अवश्य है। किन्तु वह एकमात्र निकष नहीं है। इस बात का ध्यान हमारे यहाँ नहीं रखा गया। संविधान में निर्धारित 15 वर्ष की अवधि 1965 में बीत जाने के बाद भी हिंदी को सम्पर्क-भाषा के रूप में लागू करने में भारत सरकार ने जो टालमटोल की और राष्ट्रपति ने भी इस संबंध में अपने कर्तव्य की जो उपेक्षा की, उसकी दीनदयाल जी ने प्रखर आलोचना की है। सरकार ने उचित भूमिका ली होती तो प्रश्न की जटिलता में नये-नये आयाम न जुड़ते और न ही दक्षिण में विरोध खड़ा होकर अंग्रेजी के सखी भाषा के रूप में सदा के लिए मत्थे पड़ने का कोई कारण होता। दीनदयाल जी का मानना था कि राष्ट्रीय आत्मा की अभिव्यक्ति राष्ट्र की अपनी भाषा में ही उत्तम प्रकार से सहज में हो सकती है। उनका विचार था: संविधानसभा का सारा कामकाज चूंकि अंग्रेजी में हुआ था, अतः संविधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर भी उसका प्रभाव पड़ा है। संविधान का विचार हिंदी में किया जाता तो उसमें अधिक भारतीयता आयी होती, ऐसा उन्होंने एक लेख में लिखा है। भाषा के अनुषंग में संविधान के बारे में उन्होंने कहा है - "आज हमारे विद्वान लोग पश्चिम से मुँह फेरकर सोच ही नहीं सकते। मुँह फेरना तो दूर रहा, वे केवल पश्चिम के आधार पर ही विचार कर सकते हैं। संविधान का विचार उन्होंने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही किया। हिंदी का अंगीकार उन्होंने राजभाषा के रूप में किया तो है और तदनुसार संविधान का अनुवाद भी हिन्दी में किया जायेगा, किन्तु संविधान की अंग्रेजी प्रति ही अधिकृत मानी जायेगी। संविधान का प्रारूप मूलतः हिंदी या अन्य किसी भारतीय भाषा में किया गया होता तो आज जैसी अभारतीयता उसमें प्रबलता से नहीं पायी जाती, क्योंकि भाषा तब केवल विचाराभिव्यक्ति का माध्यम नहीं अपितु विचारों की दिशा निर्धारित करने वाली वस्तु होती; हिंदी शब्दावली, उन शब्दों के अर्थ एवं व्यक्त होने वाले भाव, सबमें भारतीय जीवन की ही अभिव्यक्ति होती और उसके विकास की दिशा क्या हो, इसकी भी प्रेरणा प्राप्त होती। किन्तु अंग्रेजी भाषा के प्रयोग के कारण भारतीय भावनाओं की अपेक्षा अंग्रेजों की भावनाओं की ही अभिव्यक्ति उसमें हुई है। अतः हमारा संविधान भारत में जन्मे अंग्रेजी बालक की भाँति 'एंग्लो-इण्डियन बन गया है, भारतीय नहीं!"

एकात्मक (यूनिटरी) संविधान का आग्रह

भारत की स्वाभाविक आंतरिक एकात्मता को बिना कोई बाधा पहुँचाये प्रशासकीय इकाइयों का निर्माण कैसे किया जाय, इस प्रश्न का विशुद्ध स्वदेशी उत्तर पं. दीनदयाल जी ने एकात्म प्रशासन का पक्ष लेते हुए दिया है। उनका कहना है कि ऐसा करने से आज हमारे संविधान में पायी जाने वाली 'फेडरल' और 'यूनिटरी' की अस्वभाविक खींचतान नहीं रहेगी। उनका मत है कि एकात्म भारत को साकार करने वाली पद्धति और प्रक्रिया से ही एकात्म प्रशासन में राष्ट्रीय एकात्मता को पुष्ट किया जा सकेगा और विभिन्न राष्ट्र-घटकों की विशेषताओं को भी सँजोया जा सकेगा। इस व्यवस्था में केन्द्र एक रहेगा, किन्तु सत्ता का केन्द्रीकरण उसमें न होकर समाज-जीवन के निचले धरातल तक सत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विकेन्द्रीकरण होता जायेगा। इस योजना में उन्होंने 'जनपद' की स्वदेशी परिकल्पना को आधारभूत माना है। जहाँ एक ही भाषा बोली जाती है, आंतरिक एकता की सुंदर अभिव्यक्ति दिखाई देती है, ऐसे क्षेत्रों को ही हमारे यहाँ 'जनपद' कहा गया है। ब्रज, अवध, भोजपुर, मगध, मिथिला, कोशल, कलिंग, विदर्भ, कान्हदेश, मालवा, कोंकण, मालाबार आदि सारे जनपद ही थे। इन जनपदों में किसी विशिष्ट भारतीय भाषा का प्रभाव होता है। उसी भाषा में साहित्य-सृजन होता है और उस भाषा के प्रभाव में जनपद परस्पर पूरक होते हैं। इसी प्रक्रिया से देश में महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु, बंगाल आदि प्रांतों का निर्माण हुआ दिखाई देता है। इन सबका समेकित विचार करते हुए राष्ट्रजीवन के विकास का मार्ग क्या हो, यह निश्चित करना भारतीय इतिहास के साथ सुसंगत होगा। इस भूमिका का पक्ष लेते हुए पं. दीनदयाल जी ने कहा है कि प्रांतरचना का विचार करते समय जनपद-जीवन की पूर्णतः उपेक्षा कर दी गयी है। तुलसी-रामायण की भाषा की उपेक्षा होने पर अवध जनपद अशांत अवश्य होगा। खानदेशी का अर्थ कोंकणी नहीं है। इन्हीं बातों को ध्यान में लेकर एकात्म भारत के लिए पं. दीनदयाल जी द्वारा एकात्म विधान के निर्माण हेतु सुझायी रचना इस प्रकार है:

1. प्राथमिक प्रशासन ग्रामीण अंचल में ग्राम पंचायत के अधीन रहे।
2. जनपद पर आधारित जनपद सभाएँ स्थापित की जायें। आज की नगर-परिषदों (म्युनिसिपैलिटियों) से अधिक, किन्तु विधान सभाओं से कम अधिकार उन्हें रहें।
3. संसद सार्वभौम हो। जनपद सभा और संसद के बीच वाली सभी सत्ताओं को समाप्त किया जाय। प्रशासन की सुविधा के लिए कुछ जनपद सभाओं का समूह बनाते हुए प्रांतों का निर्माण किया जाय, राज्यों का नहीं।
4. इन प्रांतों के लिए केन्द्रीय नियंत्रणाधीन प्रमुख नियुक्त कर उन्हें पर्याप्त प्रशासकीय अधिकार दिये जायें ताकि आज के प्रांतवाद का राष्ट्रीय एकता की भावना पर अतिक्रमण रुके।

लगभग 30 वर्ष पूर्व पं. दीनदयाल जी ने क्रांतदर्शिता से लिखा था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: 'आज प्रांतवाद निश्चय ही सिर उठा रहा है। केन्द्र और प्रांतों में संघर्ष खड़ा होने की संभावना स्पष्ट दिखाई दे रही है। अतः राष्ट्रीय शक्ति को सुसंगठित करना परिस्थिति की नितांत आवश्यकता है। सत्ता की सुविधा के लिए आवश्यक सत्ता का विकेन्द्रीकरण केवल जनपदीय स्तर पर ही हो। आज की प्रांतीय विधानसभाएँ सत्ता के विकेन्द्रीकरण को अनुभव ही नहीं कर पा रही हैं। प्रत्युत् उन्हें लगता है कि उन्होंने अपने अधिकार केन्द्र को सौंप दिये हैं। इसीलिए आज का विकेन्द्रीकरण एक ओर जहाँ राष्ट्रीय एकता के मूल पर प्रहार कर रहा है, वहीं दूसरी ओर जनपदों का जीवन भी पैरों तले रौंदा जा रहा है।

सारा गुड़ गोबर

विद्यमान परिस्थिति की पृष्ठभूमि में इस सारे चिंतन में राष्ट्रीय आत्मा का बोध एवं स्वदेशी परिभाषा में उसे व्यक्त करने की पंडित जी की अनुपम शैली का परिचय मिलता है। आज के विकेन्द्रीकरण में जिलों और जिला-परिषदों की एक सीढ़ी है। किन्तु जीवनकाल की दृष्टि में पंडित जी द्वारा दर्शाये गये जनपदों के स्थान के साथ जिलाप्रशासन का कोई संबंध ही नहीं आता। प्रत्युत् असंतुष्टों को नष्ट करते हुए सत्ताधारी राजनीतिक दल के लिए समर्थन जुटाने का साधन बनाकर जिलों को तोड़ा या बनाया जाता है। केरल में एक जिला केवल मुसलमानों के आग्रह के कारण बनाया गया। अब ईसाइयों का अनुनय करने के लिए एक और जिला बनाया जा रहा है। प्रांतों या राज्यों के बारे में भी यही स्थिति रही है। राज्यों की संख्या में लगातार वृद्धि होती जा रही है। गोआ या पांडिचेरी जैसे प्रदेशों का व्ययसाध्य और अनावश्यक अस्तित्व उनकी विधानसभाओं सहित बनाये रखा गया है। ईशान (उत्तरपूर्वांचल) में जनजातियों के लिए उदयाचल नामक एक अलग राज्य बना देने का वचन दिवंगत प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने असम चुनाव-प्रचार में दिखाया था। राष्ट्रीय एकता, भारत की एकात्मता, राज्यशासन के सिद्धांतों और भारत की जीवन-विषयक विशेषताओं का परस्परानुकूल संवर्द्धन करने के लिए, वास्तव में आवश्यक व्यवस्था का निर्माण करने के स्थान पर सरकार एवं सत्ताधारी दल द्वारा भारत में भवितव्य के साथ किये जाने वाले खिलवाड़ के विरुद्ध पं. दीनदयाल जी ने देश को सावधानी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतावनी दी थी। संविधान के बारे में पंडित जी का चिंतन कुछ प्रासंगिक लेखों में ही व्यक्त हुआ है। उस चिंतन को संपूर्ण एवं सुसंगत रूप में ग्रंथबद्ध करने का उन्हें अवकाश नहीं मिल पाया। 1975 से लगाये गये आपात्काल में संविधान का जो गुड़ गोबरकर दिया गया, उसे देखने के लिए पंडित जी जीवित नहीं थे। भारत में आधुनिक काल में संविधान और शासनप्रणाली कैसी हो, इसका केवल सूचक उल्लेख उनके यहाँ-वहाँ लिखे गये लेखों में ही हमारे लिए उपलब्ध है। अतः कोई कह सकता है कि ये विचार पर्याप्त स्पष्ट एवं समग्र नहीं हैं। काल ने दीनदयाल जी को पर्याप्त समय ही नहीं दिया, परिणामतः उनका कितना सारा चिंतन तो अधूरा एवं अप्रकट ही रह गया है। किन्तु उनके द्वारा हार्दिकता से किये गये मार्गदर्शन की ओर से समुचित ध्यान दिये बिना ही उनके सारे चिंतन की उपेक्षा की गयी, उसे तिरस्कृत किया गया। 1950 के बाद आज तक संविधान में बीसियों संशोधन किये गये। प्रांत बनाये और तोड़े गये। यह सब कुछ केवल राजनीतिक सुविधा के लिए ही किया गया। दीनदयाल जी संविधान और प्रशासन में जिस भारतीय आत्मा को लाना चाहते थे, वह उनमें लाया ही न जा सका। संविधान में उतना लचीलापन है भी नहीं। दीनदयाल जी ने कहा था कि राष्ट्र की जनता जाग्रत और स्वत्व सम्पन्न हो जायेगी तो शायद वह विदेशी रंगरूप के संविधान को अस्वीकार कर देगी और भारतीय तो शायद आदर्शों एवं प्रकृति को प्रकट करने वाला नया संविधान तैयार करेगी। भविष्य के गर्भ में क्या है, कौन बता सकता है?

○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

14

संक्रमण के प्रसाद-चिह्न

अब तक हमने पं. दीनदयाल जी द्वारा समग्र राष्ट्रचिंतन के समाज के सम्मुख रखे गये विविध पक्षों का थोड़ा-बहुत परिचय कर लिया है। उनके अनुषंग से अपने राष्ट्रस्वरूप को देखा है। पंडित जी की आकस्मिक हत्या के बाद, हमारे देश में हुई घटनाओं में आये मोड़ ने उनके मार्गदर्शन के औचित्य और दूरदर्शिता को सिद्ध किया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि विगत अठारह-बीस वर्षों में भारतीय जनता का अनेक विषयों में मोहभंग हुआ है। कुछ प्रमुख बातों का केवल उल्लेख पर्याप्त होगा। 1965 के युद्ध में भारत से पिट जाने के बाद भी पाकिस्तान ने 1971 में भारत से एक और युद्ध मोल लिया। हमारे द्वारा स्वीकृत लोकतंत्री प्रणाली के अनुसार बहुमत में चुनकर आये काँग्रेस दल ने 1975 में संविधान को ताक पर रखकर संसदीय बहुमत के बल पर देश को तानाशाही की खाई में धकेलने का प्रयास किया। न संविधान की पवित्रता रही, न संसद की प्रतिष्ठा! पाकिस्तान का विभाजन हो गया। फिर भी इस्लामी पुनरुज्जीवनवाद उसके दोनों भागों में उछाल लेता दिखाई दे रहा है। उसकी लहरें भारत के मुस्लिम-मानस पर आकर थपेड़े मार रही हैं। मुसलमानों के राष्ट्रजीवन के साथ एकरस होने के मार्ग में यह पुनरुज्जीवनवाद बाधा बन रहा है। मुस्लिम अल्पसंख्यकों, काश्मीर या असम में घुसपैठियों अथवा भारत में स्थान-स्थान पर भड़क उठने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
वाले तथाकथित साम्प्रदायिक दंगों के प्रश्न वास्तव में एक ही मूल समस्या के भिन्न-भिन्न अंग हैं। यह बात अब लोगों की भी समझ में आने लगी है। पाकिस्तान के साथ संबंध सुधारने के भारत के प्रयास अब तक तो सफल नहीं हो पाये हैं। प्रत्युत् अमरीका और इस्लामी राष्ट्रगुट की सहायता से पाकिस्तान फिर से युद्धसज्जित हो रहा है। इसके साथ ही भारत में इस्लामी शक्ति को बढ़ाने की योजनाएँ भी पूरे वेग से चल रही हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे हिन्दुओं का संगठन करने वाले संगठन पर 'सेक्युलर' कहलाने वाली सरकार ने दूसरी बार प्रतिबंध लगाने का विफल प्रयास किया, इसे लोगों ने भी अनुभव किया है। सार्वत्रिक शिकायत है कि विगत दस वर्ष में भ्रष्टाचार, चरित्रहीनता एवं अर्थसत्ता की व्याप्ति भयानक रूप से बढ़ गयी है। चुनाव लोक प्रतिनिधियों को चुनने के लिए होते हैं, किन्तु इन चुनावों का रूप भी अत्यधिक विकृत हो गया है। अब तो चुनावों को केवल सत्ताप्राप्ति का साधन माना जाने लगा है। जनमानस में इस विषय में चिंता और क्षोभ व्याप्त है। चुनावों का दुरुपयोग अनर्गल राजनीतिक स्वार्थ के लिए कैसे किया जाता है, इसके वेदनाकारी उदाहरण में बलात् कराये गये वे चुनाव हैं जिनमें लाखों विदेशी घुसपैठियों के नाम सम्मिलित कर बनायी गयी मतदाता-सूचियों के आधार पर विधानसभा के लिए बलात् मतदान कराया गया था। उसमें भीषण रक्तपात हुआ और राष्ट्रीय लोकमत को ठुकराकर तथाकथित धार्मिक अल्पसंख्यकों के एकपक्षीय मतदान पर निर्वाचित लोगों की सरकार असम की संवैधानिक सरकार होने का दावा केन्द्र सरकार ने किया। जनतंत्र के नाम पर राष्ट्रीयता की दारुण दुर्गति कोई सत्तालोभी सरकार कर सकती है, इसके दृष्टांत का एक कलंकित पृष्ठ इतिहास में अंकित हो गया। अंततः जनान्दोलन की जीत हुई और अब यद्यपि असम में वास्तविक लोक प्रतिनिधियों की सरकार आ गयी है, इस कलंकित पृष्ठ में अंकित घटनाओं की टीस जनमानस में दीर्घकाल तक रहने वाली है। इस प्रकार की आदर्श-विहीनता जीवन के सभी अंगोपांगों को व्यापती जा रही है और राष्ट्रीय सद्गुणों से राष्ट्र अधिकाधिक वंचित होता जा रहा है। परावलंबन और परानुकरण उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे हैं। पुरानी समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी हुई हैं और नयी-नयी खड़ी होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा रही हैं। यह आंतरिक खींचतान एवं तनाव आज इस सीमा तक बढ़ गये दिखाई देते हैं कि साधारण सी घटना हिंसाचार का विस्फोट करा सकती है। सहिष्णुता की सीमा समाप्त सी होती दिखाई दे रही है।

पुनर्विचार को गति

भारत के प्रधनमंत्री की उसके ही रक्षकों द्वारा उनके निवास स्थान में हत्या हो सकती है, या प्रधानमंत्री-सचिवालय से देश के सारे रहस्य वर्षों से विदेशियों के हाथ में जाते रहते हैं, ये दोनों घटनाएँ आघातकारी हैं। किन्तु देश में पिछले दस-पन्द्रह वर्ष से सत्तास्वार्थ के लिए पाले-पोसे गये वातावरण की ही यह परिणति है। जैसा बोया, वैसा काटना ही पड़ता है।

जिनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखीं थीं, उनसे ही इस प्रकार मोहभंग होने की स्थिति आ जाय, तो पुनर्विचार की प्रक्रिया सहज ही प्रारंभ हो जाती है। विगत पौन सौ वर्ष और विशेषतः स्वतंत्रता-पश्चात् के गत 39 वर्ष तक प्रादेशिक राष्ट्रवाद को गले लगाकर ही इस देश में राष्ट्रनिर्माण का प्रयास किया गया है। उसका मूल्यमापन करने की आवश्यकता इस मोहभंग के कारण अपने आप उत्पन्न हो गयी है। साम्प्रदायिक दंगों की मीमांसा करते समय प्रेक्षक एवं विचारक अब सारा पाप हिंदुओं के मत्थे मढ़कर अलग नहीं हो जाते। मुस्लिम मानसिकता को भी वे ध्यान में लेते हैं। राष्ट्रीय जीवनधारा के गुणधर्मों का वे अधिक दक्षतापूर्वक अध्ययन करते हैं। समाजवाद और साम्यवाद का जादू तो अब पूरा उतर गया है। यह विचार बल पकड़ता जा रहा है कि सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों की समस्याओं के समाधान हिंदुस्थान की परिस्थिति से सुसंगत ही खोजने चाहिए। छः पंचवर्षीय योजनाओं के पूरी हो जाने के बाद भी किसी भी समस्या की उग्रता कम नहीं होती है। उल्टे, समाज का नियमन करने का दायित्व मानने वाली हर व्यवस्था विकृतिग्रस्त होती जा रही है। इस बात की चिंता बीसियों संगोष्ठियों, परिचर्चाओं तथा विविध क्षेत्रों के कार्यकर्ताओं के सभा-सम्मेलनों में व्यक्त की जा रही है।

कोई स्वीकार करे न करे, हमारा राष्ट्र एक प्रकार से ऐतिहासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संक्रमणकाल को पार कर रहा है। वह नये मार्ग का अन्वेषण कर रहा है। यह अवस्था केवल हमारे ही देश में नहीं है। विश्व भर में सर्वत्र मानव-सुख के लिए नये विचारों एवं मार्गों को ढूँढ़ा जा रहा है। मोहभंग तो अमरीका में भी है और रूस में भी। यूरोप में भी है और चीन में भी। आज विश्व अनुभव कर रहा है कि आधुनिक एवं प्रगतिशील कहलाने वाले विशिष्ट वाद (इज्मस) एकांगी एवं असंतोषजनक सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार के संक्रमणकाल में आवश्यक होता है कि आत्मविश्वास और दृढ़तापूर्वक मानव-समस्याओं का सर्वांगीण समाधान करने के लिए दिशा दिखाने वाला कोई विचार-दर्शन आगे आये, जो उत्पन्न हुई रिक्तता एवं शून्यता को भर दे। पं. दीनदयाल जी की श्रद्धा थी कि हिंदू विचार-दर्शन में यह सामर्थ्य अंगभूत है। इसीलिए हजारों वर्ष में भारत में परिपक्व हुआ जीवन-विचार उन्होंने आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। उसकी सुदृढ़ आधारभूमि बनाकर समर्थ हिंदू राष्ट्र को खड़ा करने की आवश्यकता का उन्होंने प्रतिपादन किया। भारत के ही नहीं, विश्व के भी सौभाग्य से उस विचार के लिए अनुकूल शक्तियाँ आज जनता को आकृष्ट करने लगी हैं। एक ओर से मोहभंग हो जाने के बाद अब किस दिशा में मुड़ें, ऐसा विचार करने वालों को ये शक्तियाँ आधार दे रही हैं। ये उनका आशास्थान बन गयी हैं। जड़वादी पाश्चात्य एवं कम्युनिस्ट देशों में भी हिंदू वेदान्तविचार और व्यवहार में उसकी अभिव्यक्ति को समझ लेने की उत्सुकता बढ़ी हुई दिखाई देती है। वेदान्तविचार लेकर भारत से बाहर संचार करने वाले संन्यासियों की स्वामी विवेकानंद द्वारा पुष्ट परंपरा अब अधिक गतिमान हो रही है। किन्तु उसे सुप्रतिष्ठित करने के लिए आवश्यक है कि पहले भारत में राष्ट्रीय संक्रमण परिपक्व बनाया जाये।

संक्रमण की यह प्रक्रिया भारत में कितना समय लेगी, कहा नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि हो रहे परिवर्तन का रंगरूप अभी आंतरिक है और अस्पष्ट भी। राजनीतिक क्षेत्र की बाह्य व्यवस्थाओं पर उसका प्रभाव होता दिखाई नहीं देता। लोकशक्ति और राष्ट्रीय समाज को व्यापक परिमाण में आत्मबोध हुए बिना शायद उस शक्ति की अभिव्यक्ति राष्ट्रजीवन में परिवर्तनों के रूप में नहीं हो पायेगी। किन्तु एक बात को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो हम स्पष्ट देख सकते हैं कि हिंदू शब्द के प्रति जो दूरियाँ अथवा हीन भावना पहले सहज व्यक्त हो जाती थीं, अब उतनी मात्रा में नहीं होती। इस शब्द को अब जनमानस में एक प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है। विभिन्न राजनीतिक दलों, सम्प्रदायों और प्रांतों को आंतरिक एकता में पिरोने वाले हिंदुत्व-सूत्र का बोध अब अधिक पाया जा रहा है। 'हम हिंदू हैं', ऐसा सगर्व कहने वाले लाखों लोगों के विराट् सम्मेलन देश के विभिन्न भागों में सरलता से सम्पन्न हो रहे हैं। यह केवल प्रतिक्रियात्मक जागृति नहीं है। जीवनमूल्यों के प्रति अब तक सुप्त रहा लगाव अब शनैः शनैः प्रकट भावात्मक रूप ले रहा है। अपने राष्ट्र पर होने वाले बाह्य आक्रमणों को रोक कर उन पर विजय करने की उत्कट भावना जागृति का ही एक लक्षण होती है। रणभूमि में हमने पाकिस्तान का पराभव किया और पाकिस्तानी सेना ने हमारे सम्मुख हथियार डाल दिये, तब अपने मन में उत्पन्न भावनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण कोई करके देखे। हजार-बारह सौ वर्ष से हमारी मातृभूमि पर जो आक्रमण ही करते आये और आज भी पाकिस्तान के रूप में जिन्होंने वह आक्रमण चालू रखते हुए हमारे मानस को पीड़ा दी है, उन आक्रांतओं को धूल चटाने का हर्ष हममें से प्रत्येक के हृदय में उमड़ आया था। इस प्रसंग में हमने अनुभव किया कि हमारी चिति भले ही मंद क्यों न पड़ गयी हो, वह पूर्णतः नष्ट नहीं हुई है। विदेश में कहीं भी हिंदू तत्त्वज्ञान या प्रतिभा, तंत्रविज्ञान या क्रीड़ानिपुणता का गौरव हुआ तो उसे राष्ट्रीय गौरव मानने की ही भावना सर्वत्र व्यक्त होती है।

कुछ सांकेतिक घटनाएँ

आंतरिक घटनाओं के बारे में कुछ ऐसा ही अनुभव किया जाता है। हिंदू समाज को लगा उदासीनता का रोग तो अभी नष्ट नहीं हुआ है। वह नष्ट हो गया होता तो हमारे मुँह से असम की समस्या या श्रीलंका के तमिल लोगों का प्रश्न जैसी भाषा का प्रयोग कभी न होता। राष्ट्रीय प्रश्न मानकर ही हम उन समस्याओं का समाधान ढूँढने में जुट जाते। एकाकीपन की भावना की हल्की छाया भी उन भागों में रहने वालों के मन पर हम आने नहीं देते। किन्तु उदासीनता के साथ ही कहीं-कहीं जागृति और सक्रियता भी है। केरल के निलक्कल का उदाहरण इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ में उद्बोधक है। केरल में ईसाई पंथ के लोग किसी स्थान पर अधिकार जमा कर वहाँ गिरजाघर नित्य ही बनाया करते हैं। ऐसी घटनाओं की ओर हिंदू समाज आज तक उदासीनता से, और, 'हम कर भी क्या सकते हैं' की असहाय भावना से ही देखता था। किन्तु निलक्कल में जब ऐसा हुआ तो, भारत के राष्ट्रजीवन में मंदिरों को कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त है और हिंदुओं के श्रद्धास्थान पर विपरीत हरकतें करने वालों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, यह जाग्रत राष्ट्रीय भावना वहाँ प्रकट हुई। बस जाति, पंथ, दल, आदि सारी बातें गौण हो गयीं और हिंदू समाज की नाना संस्थाएँ एवं संगठन अपने श्रद्धास्थान के परिसर को निरापद रखने के लिए एकजुट होकर आगे बढ़े। परिणामतः ईसाई समाज में ही मतभेद खड़े हो गये और सरकार को भी अपने निर्णय बदलने पड़े। जागरूकता, सावधानी और संगठन के सहारे राष्ट्रीय स्वत्व की रक्षा करने में किस प्रकार सफलता प्राप्त होती है, इसका यह एक उत्तम उदाहरण है। मीनाक्षीपुरम् के कुख्यात धर्मांतरण-काण्ड के बाद हिंदू समाज में आयी जागृति का ही यह परिणाम रहा। विश्व हिंदू परिषद् के अभियान को देश में प्रचण्ड समर्थन मिला। 1983 के अंत में विश्व हिंदू परिषद् द्वारा निकाली गयी एकात्मता-यज्ञ-यात्राओं ने देश में नयी आशा और चेतना जगायी। किन्तु फिर भी हो रही जागृति आवश्यकता की तुलना में अल्प और मंद है। समाज-जागृति की यह भूमिका राजनीति-निरपेक्ष है। यहाँ के राष्ट्रीय जीवनप्रवाह में विक्षेप निर्मित कर उसे शुष्क बना डालने के आततायी प्रयासों को सच्चा प्रोत्साहन तो राष्ट्रीय समाज की निद्रालीन और आत्मविस्मृत अवस्था के कारण प्राप्त होता है। समस्याएँ अनेक हों, तब भी सबका एकमात्र प्रभावी उत्तर यहाँ के राष्ट्रीय हिंदू समाज में स्वत्वजागृति, आदर्शाभिमुखता और सुसंगठन ही है। इसी मार्ग पर चलने से हिंदुस्थान का स्वाभाविक राष्ट्रस्वरूप प्रकट होगा और प्रभावी बनेगा। इसीलिए पं. दीनदयाल जी विशुद्ध राष्ट्रचिंतन पर आधारित और राष्ट्र का अभ्युत्थान करने के ध्येय से अभिमंत्रित संगठित शक्ति का निर्माण करने पर विशेष बल दिया करते थे। यह प्राचीन राष्ट्र अपने वास्तविक स्वरूप का बोध जगाते हुए एकात्म भावना से खड़ा हो जाये, तभी यथार्थ में संक्रमण पूरा होगा। राष्ट्र के सामने भव्य ध्येय हो, तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका भौतिक उत्थान भी उसके अनुषंग से सहज ही में हो जायेगा।

हमने आज तक इस आधारभूत सत्य की उपेक्षा की और परिणामतः राष्ट्र को अपरिमित हानि उठानी पड़ी। मातृभूमि का विभाजन भी हो गया। इन सारे अपमानों का हम परिमार्जन करेंगे और धर्माधिष्ठित परम वैभवशाली राष्ट्रजीवन का निर्माण यहाँ फिर से कर दिखायेंगे, यही आकाँक्षा पं. दीनदयाल जी के राष्ट्रीय रिक्थ (विरासत) को समझ लेने के बाद, हमारे मन में उद्दीपित होनी चाहिए। जागृति और संगठन के इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए समय अब परिपक्व हो गया है। विगत अर्धशती में प्राप्त अनुभव के आधार पर देश में अब इस विचार को ग्रहण करने की मानसिकता निर्मित हो गयी है। पं. दीनदयाल जी, अपने अल्पायुषी जीवन में भी, अँधेरे से प्रकाश की ओर जाने के लिए आवश्यक राष्ट्रस्वरूप के ज्ञान की अनमोल निधि हमारे लिए छोड़ गये हैं। आज आत्यन्तिक आवश्यकता है कि हिंदू राष्ट्र कृतज्ञतापूर्वक यह स्वदेशी ज्ञान आत्मोद्धार के लिए ग्रहण करे। यह संभव नहीं कि इस समस्त ज्ञान को तुरंत शासकीय अथवा राजनीतिक दलों के स्तर पर स्वीकार किया जायेगा। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्र को समर्थ बनाने का लक्ष्य सम्मुख रखकर जीवन के विविध क्षेत्रों में स्वयंसेवी जनसंगठन कार्यरत हो जायें और लोगों को गैर-सरकारी धरातल पर एकत्रित करें। समुचित संस्कार प्राप्त कर चुके कार्यकर्ता ऐसी संस्थाओं में हों। फिर जनता में जैसे-जैसे परिवर्तन होता जायेगा, लोकमत का प्रभाव राजनीति सहित सभी क्षेत्रों में दिखने लगेगा। ऐसी मूक और शांतिपूर्ण क्रांति के कारण देश में स्थिरता आयेगी, परंपरा का सातत्य बना रहेगा और किसी दुष्परिणाम की कोई संभावना नहीं रहेगी। जिसमें सभी प्रकार से सुसंवादी जीवन का सुख हमें प्राप्त हो, ऐसा जीवन खड़ा करने का मार्ग पं. दीनदयाल जी ने हमें बताया है। उनके स्वप्न को साकार करने के लिए प्रयत्नों की पराकाष्ठा करने का दायित्व हमारा है।

○○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ-सूची

1. राष्ट्रजीवन की दिशा : पं. दीनदयाल उपाध्याय
2. राष्ट्रचिंतन : पं. दीनदयाल उपाध्याय
3. जगद्गुरु शंकराचार्य : पं. दीनदयाल उपाध्याय
4. सम्राट् चंद्रगुप्त : पं. दीनदयाल उपाध्याय
5. एकात्म मानववाद : पं. दीनदयाल उपाध्याय
6. तिलक-विचार : भा.कृ. केलकर
7. हिंदुस्थान का राष्ट्रीयत्व : ज.द. जोगलेकर
8. हिंदुत्व, राष्ट्रीयत्व व निधर्मी शासन : ज.द. जोगलेकर
9. हिंदू राष्ट्रवाद : एक विचार : शं.रा. दाते
10. The Integral Approach : D.B. Thengadi
    Shri Guruji
    Deendayal Upadhyaya
11. Why Hindu Rashtra? : Shri Gurauji
12. वेदों में राष्ट्रदर्शन : म.म. बालशास्त्री हरदास
13. हिंदुत्व : वि.दा. सावरकर
14. राष्ट्रद्रष्टा विवेकानंद : वि.वि. पेंडसे
15. अरविंद व माताजी ने क्या कहा था? : वि.वि. पेंडसे
16. 'मैं' या 'हम'? : विश्वनाथ लिमये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

17. The Tragic Story of Partition : H.V. Sheshadri
18. दैशिक शास्त्र : बद्रीशाह टुलधरिया
19. चिरंतन राष्ट्रजीवन : द.बा. ठेंगड़ी
20. Hindu Renaissance : D.B. Thengadi
21. भारतीय मजदूर आंदोलन : विचारसूत्र : द.ब. ठेंगड़ी
22. पांचजन्य : दीवाली विशेषांक 1980 :
23. हिंदू चिंतन और चुनौतियाँ : प्रो. राजेन्द्रसिंह
श्री सुदर्शन जी तथा
श्री द.बा. ठेंगड़ी
24. अनेकता में एकता : प्रो. राजेन्द्रसिंह
श्री सुदर्शन जी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक - परिचय

श्री चन्द्रशेखर परमानंद भिशीकर

श्री चं.प. भिशीकर मूलतः नागपुर-निवासी हैं। 1949 में उन्होंने नागपुर के दैनिक 'तरुण भारत' के सम्पादक-मंडल में प्रवेश किया और 1957 में पुणे 'तरुण भारत' का प्रकाशन प्रारंभ होने के बाद उन्हें पुणे-संस्करण का कार्यकारी संपादक नियुक्त किया गया। आगे चलकर 1964 से 1978 तक वे दैनिक 'तरुण भारत' के मुख्य संपादक रहे। विगत लगभग 12 वर्षों से वे रविवार के तरुण भारत में चिंतनशील साहित्यिक स्तंभ लिखते रहे हैं। दैनिक के संपादकीय के अतिरिक्त अन्य लेखन भी उन्होंने प्रचुर मात्रा में किया है। उनके दो ग्रंथ-'केशवः संघनिर्माता' और 'श्रीगुरुजी' एकाधिक भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं और चार लेखसंग्रहों एवं अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाओं को भी लोकप्रियता मिली है। सम्प्रति वे लेखन, पठन, रा. स्व. संघ एवं संघपरिवार के कामों में व्यस्त रहते हैं। उनकी लेखन-शैली एवं आशयघनता पर आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव सहज ही देखा जा सकता है। संघप्रणीत जनकल्याण-समिति के आप प्रांतीय उपाध्यक्ष हैं। शिक्षा एम. ए. तक हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

हमारे मुख्य प्रकाशन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक नाम	लेखक	(पृष्ठ)	मूल्य(रु)
Jihad in India	Dr. K V Paliwal	64	35
Imperialist Character of Islam	Dr. K V Paliwal	60	30
इस्लाम के दो चेहरे	डॉ. के. वी. पालीवाल	92	40
Two Faces of Jihad	Dr K V Paliwal	70	35
Pt Deendayal Upadhyaya - Ideology & Perception (7 Vols.)			
Part -1 AN INQUEST	D B Thengadi	248 PB/HB	110/160
Part -2 INTEGRAL HUMANISM	V V Nene	104 PB/HB	60/100
Part -3 POLITICAL THOUGHT	B K Kelkar	160 PB/HB	80/120
Part-4 INTEGRAL ECONOMIC POLICY	S A Kulkarni	158 PB/HB	80/120
Part -5 CONCEPT OF THE RASHTRA	C P Bhishikar	202 PB/HB	95/130
Part -6 POLITICS FOR NATION's SAKE	B N Jog	160 PB/HB	80/120
Part -7 A PROFILE	V N Deodhar	124 PB/HB	70/110
वेद परिचायिका	डॉ. के वी. पालीवाल	44	30
श्रीगुरुजी – 'एक बहुआयामी व्यक्तित्व'	डॉ. जागेश्वर पटले	420	180
राष्ट्रीय नवोत्थान – स्वामी विवेकानन्द का दिव्य-दर्शन और रा. स्व. संघ की लक्ष्य साधना	के. सूर्य नारायण राव	304	120
हिन्दू नाम की प्राचीनता और विशेषताऐं	स्वामी विज्ञानानन्द	92	40
...और देश बँट गया	हो. वे. शेषाद्रि	400	160
न फूल चढ़े न दीप जले	नीलकंठ देशमुख	208	90
प्राचीन भारत अध्यात्म और विज्ञान	डॉ. ओम प्रभात अग्रवाल	88	50
भारतीय शिक्षा के मूल तत्व	लज्जाराम तोमर	208	90
हिंदू विजय युग प्रवर्तक	हो. वे. शेषाद्रि	321	140
मृत्युंजय भारत	उमाकान्त केशव आपटे	336	140
ज्योति जला निज प्राण की	म. च. वाजपेयी, श्रीधर पराडकर	592	200
वैदिक राष्ट्रीय ऋचाएँ	डॉ. के वी. पालीवाल	76	35
श्री गुरुजी–व्यक्तित्व और कृतित्व	डॉ. कृष्ण कुमार बवेजा	216	90
पॉलिटिकल डायरी	दीनदयाल उपाध्याय	264	100
एकात्म मानव दर्शन	मा.स. गोलवलकर	130	70
भारत परिचय प्रश्न मंच	डॉ. हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल	140	80
मनुस्मृति और डॉ. अम्बेडकर	डॉ. के वी. पालीवाल	120	60
परिवार प्रबोधन	संकलित	40	20
हिन्दू प्रतिभा के दर्शन	रवि कुमार	268	120
पुण्यभूमि भारत	जुगल किशोर शर्मा	112	60

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक नाम	लेखक	(पृष्ठ)	मूल्य(रु)
भारतीय इतिहास का विकृतिकरण	रघुनन्दन प्रसाद शर्मा	124	60
जिहादियों को जन्नत-केवल क़ियामत बाद	डॉ. के वी. पालीवाल	70	40
केशव : संघ निर्माता	सी. पी. भिशिकर	208	90
भारतीय संस्कृति का विश्व संचार	डॉ. शरद हेबालकर	176	75
सच्चा सुख निरोगी काया	रामनारायण पुरी	72	35
कृतिरूप संघ दर्शन	हो. वे. शेषाद्रि	568	200
क्या कहते हैं संघ पर न्यायालय?	अनुवादक : विनोद बजाज	172	75
शाखा सुरभि	संकलित	144	40
भारत एकात्मतास्तोत्र	डॉ. हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल	84	10
भारत एकात्मतास्तोत्र व्याख्या (सचित्र)	डॉ. हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल	64	90
अमर हिन्दू राष्ट्र	उमाकान्त केशव आपटे	84	35
संघ चिन्तन	उमाकान्त केशव आपटे	81	30
संजीवनी विद्या	उमाकान्त केशव आपटे	74	30
व्यक्ति एवं समाज-चिंतन	उमाकान्त केशव आपटे	104	40
माँ के चरणों में	रंगा हरि	40	20
नमस्ते सदा वत्सले.....	श्री गुरुजी, बाबा साहब आपटे	56	35
श्री गुरुजी - हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा	डॉ. जागेश्वर पटले	76	35
राष्ट्रीय सुरक्षा	मोहनराव भागवत (गोष्ठी)	24	17
श्री गुरुजी - एक राष्ट्रवादी संगठक	डॉ. जागेश्वर पटले	76	35
राष्ट्र निर्माण में युवाओं का योगदान	मोहनराव भागवत (गोष्ठी)	32	25
ईसाईयत की असलियत	डॉ. के वी. पालीवाल	52	35
मैं साधारण स्वयंसेवक	मा. स. गोलवलकर	16	15
जिहाद क्या और क्यों?	डॉ. के वी. पालीवाल	100	55
जो शहीद हुए हैं उनकी ज़रा याद करो कुर्बानी	संकलन : विजय कुमार गुप्ता	40	15
विवेक जीवन	डॉ. सुशील गुप्ता	76	35
भारतीय महापुरुषों की दृष्टि में इस्लाम	डॉ. के वी. पालीवाल	72	45
सेवा-व्रत एवं संघ-साधना	एकनाथ रानडे	136	70
प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति	लज्जाराम तोमर	176	75
भारत इस्लामी राज्य की ओर-एक चेतावनी!	डॉ. के वी. पालीवाल	32	20

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक नाम	लेखक	(पृष्ठ)	मूल्य(रु)
भारतीय मुसलमानों के हिन्दू पूर्वज	पुरूषोत्तम	60	40
हिन्दू जागरण - क्यों और कैसे ?	डॉ. के वी. पालीवाल	144	75
संघ उत्सव	संकलित	52	25
मैक्समूलर द्वारा वेदों का विकृतिकरण	डॉ. के वी. पालीवाल	124	70
श्री गुरुजी - परिचय एवं व्यक्तित्व	डॉ. जागेश्वर पटले	80	35
वेदों में राष्ट्र भक्ति	डॉ. के वी. पालीवाल	56	40
सूफ़ियों द्वारा भारत का इस्लामीकरण	पुरूषोत्तम	36	25
प्रेरक बाल कथाएँ	श्रीनिवास वत्स	72	40
लघु बाल कथाएँ	श्रीनिवास वत्स	40	15
अनमोल कहानियाँ	वचनेश त्रिपाठी	60	30
पंचतंत्र की कथाएँ	डॉ. के. एस. रंगप्पा	60	35
मीठे बोल कथा अन्मोल	वचनेश त्रिपाठी	64	35
छद्म सेक्यूलरवादियों और इस्लाम का असली चेहरा	कृष्णास्वामी	54	30
गुरुजी-पटेल-नेहरु पत्र व्यवहार	संकलित	44	25
सर्वोच्च न्यायालय का ऐतिहासिक निर्णय - हिन्दुत्व एक जीवन-पद्धति	संकलित	64	35
भारत वन्दना	संकलित	136	35
मातृ वन्दना	संकलित	124	35
हिन्दु नवोत्थान	मोहनराव भागवत (बौद्धिक)	32	20
हिन्दू राष्ट्र क्यों ?	हो. वे. शेषाद्रि	80	40
नरेन्द्र मोदी के सपनों का भारत (His Insightful Speeches)		80	50
श्री गुरुजी - दृष्टि और दर्शन	संकलित	360	140
संघ का आह्वान - जगे राष्ट्र पुरुषार्थ	मोहनराव भागवत (बौद्धिक)	24	22
देश की ज्वलंत समस्याएँ एवं समाधान	श्रीगुरुजी (प्रैसवार्ता)	72	40
आओ जानें भारत	जगदीश तोमर	72	40
माँ! अब तो खोलो द्वार	गो. नी. दाण्डेकर	264	20
प्रखर राष्ट्रभक्त डॉ. भीमराव अम्बेडकर	सी. एस. भण्डारी	136	70
श्री अरविन्द का राष्ट्र को आह्वान	देवदत्त	88	50
भारत का संक्षिप्त इतिहास	डॉ. सतीश चन्द्र मित्तल	40	35
महर्षि वाल्मीकीकृत श्री रामसंवाद (Shri Ram's Discourses)		192	110
Hindu Resurgence in Indonesia	V. Ravi Kumar	80	140

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक नाम	लेखक	(पृष्ठ)	मूल्य(रु)
Eminent Indians on Islam	Dr. K.V. Paliwal	100	55
Punya-Bhoomi Bharat	Jugal Kishor Sharma	128	70
Islamization of India by the Sufis	Purushottam	36	25
Challenges before the Hindus	Dr. K.V. Paliwal	68	45
कम्युनिस्ट आतंकवाद	तरुण विजय	214	100
Untouchability Alien to Hindu Dharma	Dr. K.V. Paliwal	168	80
Jammu & Kashmir-A State in Turbulence	Narender Sehgal	318 PB/HB	120/200
RSS At a Glance	Dr. Suresh Chandra Bajpai	40	20
The Supreme Court Judgement -on 'Hindutva A Way of Life'	M. Rama Jois	64	35
Scientific Outlook of Hindu Dharma	K. S. Sudarshan	32	20
Why Hindu Rashtra ?	H.V. Seshadri	52	30
संगठित हिन्दू-समर्थ भारत	मोहनराव भागवत (बौद्धिक)	40	25
हिन्दू मानसिकता	दत्तोपन्त ठेगड़ी	48	25
समन्वय संकल्पना	मोहनराव भागवत (बौद्धिक)	36	22
डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में मुस्लिम कट्टरवाद	एस. के. अग्रवाल	64	25
श्री गुरुजी -एक अनोखा नेतृत्व	मा. गो. वैद्य	64	40
दरिया भवानी	जी. एस. दाण्डेकर	236	110
दास बोध	विजय कुमार	64	25
स्वराज्य-संस्थापक शिवाजी-1	दि.वि. पातुरकर, आनन्द आदीश	128	30
स्वराज्य-संस्थापक शिवाजी-2	दि.वि. पातुरकर, आनन्द आदीश	128	30
गोरक्षा - राष्ट्र रक्षा गोसेवा - जनसेवा	डॉ. गौरीशंकर भारद्वाज	88	45
जीवन मूल्य - 1	प्र. ग. सहस्रबुद्धे	154	60
जीवन मूल्य - 2	प्र. ग. सहस्रबुद्धे	150	60
जीवन मूल्य - 3	प्र. ग. सहस्रबुद्धे	162	60
भगवान् श्री कृष्ण-1 प्रादुर्भाव और पराक्रम	बाल शास्त्री हरदास	144	25
भगवान् श्री कृष्ण-2 विलक्षण नेतृत्व	बाल शास्त्री हरदास	194	80
भगवान् श्री कृष्ण-1 तत्त्वज्ञ धर्मसंस्थापक	बाल शास्त्री हरदास	128	65
मानव जीवन के चार सोपान एवं हिन्दू संस्कृति	प्राणनाथ पंकज	104	45
नाभिकीय अस्त्र सम्पन्न भारत	डॉ. ओम प्रकाश पहुजा	112	40
ॐ राष्ट्राय स्वाहा	मृणालिनी जोशी	176	25
रामसेतु रक्षतु	डॉ. हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल	75	10

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक नाम	लेखक	(पृष्ठ)	मूल्य(रु)
सस्कृति और संक्रमण	शाहिद रहीम	368	120
शक्तिपुत्र छत्रसाल	सोमदत्त पथिक	256	60
श्री गुरुजी और सामाजिक समरसता	एम. राम जोइस	250	120
श्री गुरुजी समग्र (12 भाग)	संकलित	-	2000
सुमंगलम	डॉ. बजरंग लाल गुप्त	128	50
स्वामी विवेकानन्द - जीवन और संदेश	संकलित	48	15
भारत जागो! विश्व जगाओ !!	संकलित	64	25
हे हिन्दू राष्ट्र! उतिष्ठत जाग्रत!!	संकलित	176	40
वैदिक राष्ट्र दर्शन-1	बाल शास्त्री हरदास	156	35
वैदिक राष्ट्र दर्शन-2	बाल शास्त्री हरदास	144	35
वैदिक राष्ट्र दर्शन-3	बाल शास्त्री हरदास	106	35
Indo-US Nuclear Deal - A Fact Sheet	Compiled	40	10
RSS Resolves	Compiled	390	100
Separatism in North East India -Role of Language Religion Script	Dr. Kunal Ghosh	268	75
The Victory of Faith	Narender Sehgal	128	30
Wide Wings of Vanvasi Kalyan Ashram	K Suryanarayan Rao	320	70
वीर माताएँ	संगीता पवार	100	50
व्यम् हिन्दव:	डॉ. ओम प्रकाश पहूजा	150	110
मुस्लिम शासक तथा भारतीय जन-समाज	डॉ. सतीश चन्द्र मित्तल	200	70
योग एक सामाजिक अनिवार्यता	हो. वे. शेषाद्रि	63	20
Yoga - A Social Imperative	H.V. Seshadri	64	10
The Role of Youth in Nation Building	Mohan Rao Bhagwat (Meet)	48	25
विदेशी रानी	आचार्य रामरंग	288 PB/HB	250/350
पर्यावरण प्रेमी हिन्दू दृष्टि	डॉ. बजरंग लाल गुप्त	32	25
रा. स्व. संघ प्रस्ताव	संकलित	403	100
ध्येय-दृष्टि	मा. स. गोलवलकर	72	20
The People versus Emergency: A Saga of Struggle	P.G. Sahastrabuddhe Manik Chandra Bajpai	648	110
Partition-Days - The Fiery Saga of RSS	Manik Chandra Bajpai	642	150
प्रेरणा दीप-1 वीरव्रत परम् सामर्थ्य	दीनानाथ बत्रा	96	50
प्रेरणा दीप-2 आत्मवत् सर्वभूतेषु	दीनानाथ बत्रा	140	80

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

	लेखक	(पृष्ठ)	मूल्य(रु)
प्रेरणा दीप-3 माँ का आह्वान	दीनानाथ बत्रा	96	50
प्रेरणा दीप-4 पूजा हो तो ऐसी	दीनानाथ बत्रा	96	15
जलदुर्ग	गोपाल नीलकंठ दाण्डेकर	206	40
आस्था पर आघात	नरेन्द्र सहगल	32	5
अंग्रेजी शासन में सामंती शैषण एवं जनजातीय भक्त आन्दोलन - गोविन्द गुरु का योगदान	रुप सिंह भील	152	45
भागीरथी के प्रवाह से	संकलित	40	10
दिग्विजयी हो भारत	संकलित	64	35
गुरुगोविन्द सिंह के काव्य में भारतीय संस्कृति	डॉ. धर्म पाल मैनी	156	PB/HB 120/180
हमारी संस्कृति और श्री रामचरित्रमानास	प्राणनाथ पंकज	195	32
हाँ ! हम हिन्दू हैं।	लक्ष्मण टोपले	108	40
हिन्दू जीवन में वानप्रस्थ व्यवस्था	जितेन्द्र वीर गुप्त	20	8
इतिहास के झरोखे से - 1 यह पुण्य प्रवाह हमारा	वचनेश त्रिपाठी	88	15
इतिहास के झरोखे से - 2 हिन्दुवानी हूँ रहुँगी मैं	वचनेश त्रिपाठी	104	20
इतिहास के झरोखे से - 3 जगे धर्म हिन्दू	वचनेश त्रिपाठी	154	70
इतिहास के झरोखे से - 4 धरती है बलिदान की	वचनेश त्रिपाठी	124	25
जीवन दीप जले ऐसा - 1	संकलित	52	8
जीवन दीप जले ऐसा - 2	संकलित	52	8
विश्वनाथ जी - एक अनथक योगी	डॉ. कुलदीप अग्निहोत्री	112	30
बौद्ध धर्म को काशी की देन	डॉ. शशिभूषण सिंह	108	70
श्री गुरुजी समग्र - शब्दार्थ एवं सन्दर्भ संकेत विवरणिका	दामोदर शाण्डिल्य	180	30

पुस्तकालय
155201
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
43.4,BHI-P
155201
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Signature Date
26/10/015
Vijay Tiwari 9-3-18
महा० पुस्तकालय स०
Data Entry by
Checked

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पुस्तकालय
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या 43.4 आगत संख्या 155201

भिषी-पं

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

9 MAR 2018

B/6417,

155201

43.4,BHI-P

155201

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

LIBRARY
Signature Date
26/10/015
Tag
E.A.C.
Recomm. by
Data En by
Checke

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं. दीनदयाल उपाध्याय – विचार दर्शन

सादा जीवन और उच्च विचार की जीती जागती प्रतिमा- पण्डित दीनदयाल उपाध्याय के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर काफी कुछ लिखा जा चुका है।

किन्तु जितनी गहराई और विस्तार में जाकर श्री दत्तोपन्त ठेंगडी, श्री नेने, श्री भिशीकर, श्री केलकर, श्री कुलकर्णी, श्री जोग तथा श्री देवधर ने उपाध्याय जी के मूलभूत चिन्तन के विविध पहलुओं को, स्थायी और तात्कालिक, दोनों परिप्रेक्ष्यों में, प्रभावी रीति से प्रस्तुत किया है, वह वस्तुतः अभिनन्दनीय है।

उपाध्याय जी के 'विचार-दर्शन' पर प्रकाशित ये सात खण्ड प्रत्येक सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता के पठन, मनन और चिन्तन का विषय होने चाहिएं।

(अटल विहारी वाजपेयी)

खण्ड नाम और विषय	लेखक
1. तत्त्व जिज्ञासा (अनुवर्ती 6 खण्डों की प्रस्तावना स्वरूप स्वतंत्र विवेचन)	श्री दत्तोपन्त ठेंगडी
2. एकात्म मानव दर्शन (एकात्म मानववाद का व्याख्यात्मक विवेचन)	श्री वी. वी. नेने
3. राजनीतिक चिन्तन (दीनदयाल जी से उनके अनुयायियों को उत्तराधिकार में मिली राजनीतिक पद्धति)	श्री भा. कृ. केलकर
4. एकात्म अर्थनीति (एकात्म मानववाद पर आधारित आर्थिक नीति)	श्री शरद अ. कुलकणी
5. राष्ट्र की अवधारणा (दीनदयाल जी के राष्ट्रविषयक विचारों का विशद परिप्रेक्ष्य)	श्री सी. पी. भिशीकर
6. राजनीति राष्ट्र के लिये (राज्य और राजनीति साध्य नहीं, मात्र साधक हैं। साध्य है राष्ट्र का परम वैभव)	श्री ब. ना. जोग
7. व्यक्ति-दर्शन (दीनदयाल जी के अति सरल, किन्तु विलक्षण बुद्धिमान, त्यागमूर्ति, आत्मीय व्यक्तित्व की झाँकी, उन्हीं के विचार-संकलन सहित)	श्री वि. ना. देवधर

सुरुचि प्रकाशन
केशव कुंज, झण्डेवाला, नई दिल्ली-110055
फोन : 011-23514672, 23634561
ईमेल : suruchiprakashan@gmail.com
वेब साईट : www.suruchiprakashan.com

मूल्य : ₹ 115
ISBN : 978-93-81500-73-6

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar